प्रभात के प्रसून

[नई पीढ़ी के कहानीकारों की प्रतिनिधि कहानियों का संकलन]

संयोजक तथा प्रधान सम्पादक
पं० दुर्गाशंकर मिश्र

सम्पादक
रामेश्वर तिवारी

मुख्य विक्रेता
नवयुग ग्रन्थागार
छितवापुर रोड, लखनऊ

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य भवन
लालकुआँ, लखनऊ

प्रथम बार १९५६
मूल्य ४)

मुद्रक
रामचरण लाल श्रीवास्तव
पवन प्रिंटिंग प्रेस, नजीराबाद
लखनऊ

वक्तव्य

वर्तमान काल में साहित्य के जिन अंगों का सर्वाधिक विकास हुआ है उनमें कहानी प्रमुखतम है और यदि हम उसे साहित्य का सबसे अधिक लोकप्रिय अंग कहें तो कदाचित तनिक भी अत्युक्ति न होगी। वस्तुतः कहानी सुरसरि की ऐसी अबाध धारा है जिसमें दिवस भर का थकित और क्लान्त व्यक्ति अपनी थकान मिटाकर जीवन में माधुर्य की अनुभूति कर पाता है अब मनोरंजन तथा मानवीय अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति के फलस्वरूप कहानीकला की उपादेयता प्रतिदिन अधिकाधिक रूप में वृद्धि करती जा रही है। कदाचित इसीलिए उपनिषद् की रूपक कथाओं, महाभारत के उपाख्यानों, दृष्टान्तों और बौद्धों के जातक ग्रन्थों से लेकर आज तक भारतीय कथा-साहित्य निरन्तर विकासशील ही रहा है। हिन्दी कथा-साहित्य के विकास पर तो आलोचकों द्वारा विशेष रूप से विचार किया जा चुका है और छोटे मोटे निबन्धों के साथ साथ हिन्दी कथा-साहित्य के विकास क्रम को लक्ष्य कर अब विद्वानों द्वारा गवेषणात्मक प्रबन्ध भी प्रस्तुत किए गए हैं और डा० लक्ष्मीनारायण लाल को तो इसी विषय पर डाक्टरेट भी प्राप्त हुई है। डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय और डा० श्रीकृष्णलाल ने भी अपनी थीसिसों में हिन्दी कथा-साहित्य के विकास पर सम्यक प्रकाश डाला है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी अपनी 'चिन्तन की चेतना' में भारतीय कथा-साहित्य की प्रवृत्तियों का सांगोपांग चित्रण किया है।

अतएव चूँकि हिन्दी कथा साहित्य निरंतरगतिशील रहा है। अत: इस प्रकार के कहानी संग्रहों की निरंतर आवश्यकता रही है, जिनमें कि नई प्रतिभाओं की कहानियाँ संगृहीत की गई हों। इसमें कोई संदेह नहीं कि मासिक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा नई प्रतिभाओं को प्रकाश में लाने की चेष्टा की जाती रही है लेकिन उन्हें संकलन रूप में गूँथने के प्रयास विरले ही हुए हैं। विदेशों में तो इस प्रकार के संकलन पर्याप्त संख्या में प्रकाशित होते हैं। 'प्रभात के प्रसून' में हमने हिन्दी के सत्ताइस नए कहानीकारों की कहानियाँ संगृहीत की हैं। यह अवश्य है कि अभी हम इस प्रयास को पूर्ण नहीं कह सकते क्योंकि अभी तो इस प्रकार के कई कहानी संग्रहों की आवश्यकता है, जिनसे कि सभी नवीनतम प्रतिभाएँ प्रकाश में आ सकें। लगभग दो सौ कहानियों में से ये सत्ताइस कहानियाँ चुनी गई हैं और इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है कि हम सर्वथा अधपकी सामग्री ही न प्रस्तुत करें। संग्रह प्रेस में जाने के पश्चात बहुत सी अच्छी कहानियाँ भी हमें प्राप्त हुई थीं परन्तु खेद है कि हम उनका उपयोग न कर सके। कहानी संग्रह में आमुख के रूप में संगृहीत कहानियों की आलोचना प्रस्तुत करने का प्रयास तो हिन्दी में सर्वथा ही नवीन है, हाँ हिन्दी के प्रसिद्ध मासिक पत्र विशाल भारत' के सुयोग्य संपादक श्री आदित्य अवस्थी ने अपने पत्र द्वारा इस परम्परा को विकसित अवश्य किया है। मुझे यह ढंग रुचिकर प्रतीत हुआ है क्योंकि इससे हमारी नवीन प्रतिभाओं का लाभ ही है। अत: हमने 'प्रभात के प्रसून' में कहानियों की समीक्षा भी की है।

यहाँ उन सभी स्नेही बन्धुजनों को धन्यवाद देना भी परमावश्यक है। जिन्होंने 'प्रभात के प्रसून' में अपना सहयोग प्रदान किया है, सर्वप्रथम तो हम इन सत्ताइस कहानीकारों के आभारी हैं जिन्होंने उदारतावश अपनी कहानियाँ प्रकाशनार्थ दी हैं।

साथ ही जिन लेखकों की रचनाओं का उपयोग न हो सका, हम उनके अपितु उनकी कृतियों के प्रति तो हृदय से क्षमा प्रार्थी हैं। श्री रामेश्वर जी तिवारी ने पर्याप्त लगन और परिश्रम के साथ मेरे निर्देशानुसार इस संग्रह का संपादन किया है। अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। साथ ही मैं अपनी प्रिय छात्रा कुमारी सरला शर्मा साहित्यरत्न के सहयोग को भी विस्मरण नहीं कर सकता क्योंकि कहानी संग्रह को अंतिम रूप प्रदान करने, बहुत सी कहानियों की प्रतिलिपि तय्यार करने; मेरी ओर से कहानीकारों से पत्र व्यवहार करने और साथ ही आमुख में दिये गए मेरे विचारों को श्रुतलेखन द्वारा अंकित करने में वस्तुतः कुमारी सरला शर्मा ने ही मेरी सहायता की है। श्री ब्रह्मनारायण शर्मा 'विकल', श्री दामोदर सदन और श्री राधाकृष्ण शुक्ल ने भी भिन्न भिन्न रूप से अपना सहयोग प्रदान किया है अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है सुधीपाठक और आलोचक वृन्द हमारे इस प्रयास का समादर करेंगे।

हंसापुरी, भंडारा रोड
नागपुर

दुर्गाशंकर मिश्र

विषय सूची

आमुख

[पं० दुर्गाशंकर मिश्र]

आधुनिक साहित्य में कहानी अब एक स्वतन्त्र कला के रूप में पल्लवित हो रही है तथा लोकप्रियता की दृष्टि से तो वह साहित्य के अन्य अंग-उपांगों की अपेक्षा अत्यधिक आगे बढ़ी हुई है। वस्तुत: कहानी, गल्प, आख्यायिका और लघुकथा एक ही वस्तु हैं तथा उनका रूप भी एक ही है। आधुनिक कथा साहित्य के विकास को देखते हुए कहानी की व्याख्या करना अथवा उसे परिभाषा के एक निश्चित आकार में बाँधना सहज नहीं है क्योंकि प्रथम तो वह निरन्तर विकासशील रही है और दूसरे उसके मूल में अनेक विभिन्न तत्त्व विद्यमान हैं जो कि निश्चित परिभाषा में बँध नहीं सकते। चूँकि भारत के प्राचीन कथा-साहित्य की संतति होते हुए भी आधुनिक हिन्दी कहानियों में विदेशी संस्कार विद्यमान हैं, अत: जैसा कि सेण्ट सबरी का मत है, कहानी के कथानक (Plot), चरित्र चित्रण (Character), कथोपकथन (Dialogue) और वर्णन अथवा वातावरण (Description) नामक चार अंश होते हैं। पाश्चात्य विचारकों ने तो कथानक की अपेक्षा चरित्र चित्रण पर विशेष बल दिया है। स्मरण रहे कि कहानी का भी एक निश्चित लक्ष्य होता है और जैसा कि सुप्रसिद्ध साहित्यकार टालस्टाय ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कला क्या है ?' में कला का प्रमुख उद्देश्य सौन्दर्य प्रदर्शन या केवल आनन्द प्रदान करना ही नहीं माना है अपितु वे साहित्य या कला की उत्कृष्टता का मापदंड लोकरंजन

तथा लोक-कल्याण को ही मानते हैं, वस्तुत: साहित्य-कला के अन्य सभी अंग-उपांगों की भाँति कहानी का भी मानव जीवन से अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है और चूँकि कथा में वर्णित चरित्रों के साथ हमारे हृदय का स्वाभाविक और प्रत्यक्ष सम्मिलन हो जाता है अतएव कहा जा सकता है कि मानव-जीवन को अभिव्यक्त करने में उसे अत्यंत सफलता प्राप्त होती है। कहानी के लक्ष्य पर विचार करते समय एक स्थल पर श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने लिखा है "साहित्य के सभी अंगों के समान रस उसका आवश्यक गुण है" लेकिन साथ ही उसमें मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों की अवतारणा भी आवश्यक है और जैसा कि सुप्रसिद्ध कहानीकार प्रेमचन्द का मत है " वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है।" इसी प्रकार श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी का भी कथन है कि "जब तक कहानी में किसी चरित्र विशेष की सृष्टि नहीं होती तब तक किसी व्यक्ति की अंतरात्मा का यथार्थ विशिष्ट प्रतिबंध नहीं झलकता, उसके जीवन का रागात्मक उच्छ्‌वास शब्दों की काया नहीं ग्रहण करते तब तक कहानी सही अर्थों में कहानी नहीं होती। इस प्रकार समीक्षकों का कहानी को मानव जीवन का उत्स और कुतूहल मानना उचित ही है तथा वस्तुत: कहानी का प्रमुख उद्‌देश्य जीवन की अनन्त सुख दु:खात्मक अनुभूतियों का मर्मस्पर्शी प्रकाशन ही है और हमें यह देखकर अत्यंत प्रसन्नता होती है कि प्रस्तुत कहानी संग्रह की अधिकांश कहानियों में भी जीवन के अंग विशिष्ट अथवा कतिपय व्यापारों की प्रतिच्छाया दृष्टिगोचर होती है।

नई पीढ़ी की हिंदी लेखिकाओं में कहानी, उपन्यास तथा एकांकी के क्षेत्र में सुश्री विपुला देवी का अपना एक विशिष्ट स्थान है। अपनी इस दीर्घ कालीन अनवरत साहित्य साधना में विपुला देवी

ने कथा-साहित्य में कुछ नवीन प्रयोग भी किए हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिल्पविधान की दृष्टि से उनकी कई कहानियाँ न केवल हिंदी की कई सर्वश्रेष्ठ कहानियों से बल्कि अन्य भाषाभाषी आख्यायिकाओं से भी कई गुना श्रेष्ठतम हैं। शीर्षक से ही अत्यंत आकर्षक प्रतीत होनेवाली प्रस्तुत कथा 'श्रृंखला की खोई कड़ी' वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक कहानी है और उसमें अनियंत्रित तथा अप्रासंगिक भावुकता के प्रदर्शन के स्थान पर मानवीय मनोरहस्यों के उद्घाटन की ही ओर विशेष ध्यान दिया गया है। कहानी की प्रधान पात्री अलका ही है और उसी को लेकर लेखिका ने मानव जीवन के कुछ सूत्रों को संगुफित करने का प्रयास किया है। अलका द्वारा कथित प्रस्तुत वाक्यों में उनकी कहानी की 'थीम' अत्यधिक स्पष्ट हो जाती है और उनके इस कथन से सहमत ही होना पड़ता है "किसी के प्रति दया, करुणा और स्नेह जब हृदय में जागें तब उसके उगते अंकुरों को निर्दयता पूर्वक कुचल देना ही जीवन की सबसे बड़ी त्रुटि है। जब मनुष्य ईश्वरत्व से घृणा करने लगता है तब वह अपनी आत्मा की सबसे बड़ी माँग को पूरी करने से मुकर कर, राग घृणादि के उत्ताप से झुलसा देने का प्रयत्न करता है। + + + तभी समाज और व्यक्ति के बीच की श्रृंखला की वह कड़ी खो जाती है जो उन दोनों को एक कर देती है। वे नदी के दो कगारों के समान पृथक् हो जाते हैं और व्यर्थ अंहकार मय आक्रोश से अपने अंतर में फूलते और मिटते रहते हैं।" लेखिका का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के लिए कोई न कोई दृढ़ आधार आवश्यक है जिससे कि वह जीवन की ओर आकर्षित हो सके और वस्तुतः मानव जीवन में सद्भावना की आवश्यकता विशेष रूप से है क्योंकि उसके अभाव में मानवता का लोप ही हो जाता है तथा स्वार्थ परता विकसित हो उठती है। लेखिका ने उन सहानु-

भूतिहीन व्यक्तियों की झाँकी भी प्रस्तुत की है जो कि सद्भावना और स्नेह के अभाव में अपने जीवन-प्रदीप को घुल घुल कर गलने दे रहे हैं। इस प्रकार 'शृंखला की खोई कड़ी' में न केवल जीवन की एक विशिष्ट समस्या का अपितु सामाजिक आवश्यकताओं का भी चित्रण किया गया है। न केवल भाव पक्ष दृष्टि से अपितु कला पक्ष की दृष्टि से भी कहानी निर्विवाद रूप से एक सफल रचना है।

केवल मनोरंजन करनेवाली संदेश विहीन कला कभी भी अमरता नहीं प्राप्त कर पाती अतः कहानीकारों के लिए आवश्यक सा है कि वह भारत की दरिद्र और अभिशप्त जनता के हाहाकार और चीत्कार का यथातथ्य वर्णन करे। गोर्की के शब्दों में साहित्य ही वह साधन या प्रमुख अस्त्र है जो उत्पीड़ित और शोषित वर्ग में पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति घृणा उत्पन्न कर सकता है। प्रसन्नता की बात है कि हमारे तरुण कहानीकार श्री वल्लभ अग्रवाल ने इस ओर ध्यान दिया है और यशपाल, अमृतराय, कृष्णचन्द्र तथा ख्वाजा अहमद अब्बास की भाँति संत्रस्त तथा पीड़ित मानवता को आंतरिक जागरूकता का प्राणवान संदेश प्रदान किया है। 'रोज़ की बात' में एक ऐसे अभावग्रस्त रिक्शेवाले की कथा वर्णित की गई है जिसमें कि बरबस हमारा हृदय उसकी दशा से करुणार्द्र हो उठता है। यद्यपि कहानी का टेकनिक उतना निखरा हुआ नहीं है परन्तु संपूर्ण कथानक एक विशिष्ट मनोदशा या भाव-मुद्रा का प्रतिफल जान पड़ता है तथा अन्तः संघर्षों का अंकन होते हुए भी अभीष्ट भाव की धारा अविरल रूप में प्रवाहित होती है। कथोपकथन भी पात्रानुकूल स्वाभाविक और आवश्यकतानुसार हास्य-व्यंग्य पूर्ण हैं। लेखक ने ईश्वर की सत्ता पर रोष प्रकट किया है जो वातावरण को देखते हुए स्वाभाविक ही जान पड़ती है और अन्त में पूँजीवादी मनोवृत्तियों का स्पष्ट चित्रण

भी है। इस प्रकार कहानी निस्सन्देह रूप से एक समस्या को प्रस्तुत करती है और ऐसी यथार्थोन्मुख आदर्शवादी कृति के लिए श्री वल्लभ अग्रवाल बधाई के पात्र हैं। जैसा कि अमेरिका के सुप्रसिद्ध गल्पकार एडगर एलिन पो ने छोटी कहानी की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कहा है "A short Story is a narrative short enough to be read in a single sitting, written to make an impression, on the reader, excluding all that does not forward that impression complete and final in itself." वस्तुत: सुश्री कीर्ति चौधरी की प्रस्तुत कहानी 'क्लब घर' इतनी छोटी है कि वह एक ही बैठक में पढ़ी जा सकती है तथा पाठकों के हृदय में एक निश्चित प्रभाव को उत्पन्न करने की क्षमता भी रखती है। कहानी में पूर्णता भी है और ऐसी बातों का सर्वथा अभाव है जो कि उसकी प्रभावोत्पादकता में बाधक हों। प्रस्तुत कहानी द्वारा उन संभ्रांत-परिवार की महिलाओं के जीवन की एक झलक का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया गया है जिनका कि उद्देश्य केवल आनन्दोपभोग में ही अपना सारा समय व्यतीत करना है। उनके लिए तो बाढ़ के दृश्यों को देखने जाने का अर्थ 'पिकनिक' मात्र है तथा उनके हृदय में तो बाढ़पीड़ितों के प्रति तनिक भी समवेदना नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत कहानी में न केवल सामाजिक जीवन की एक झलक का व्यंग्यपूर्ण चित्रण है, अपितु साथ ही संभ्रांत कहलाई जानेवाली महिलाओं की स्वार्थपरक मनोवृत्तियों का उद्घाटन भी है। कहानी की भाँति सुश्री कीर्ति चौधरी कविता के क्षेत्र में भी नये प्रयोगों की ओर अग्रसर हैं तथा आशा की जा सकती है कि भविष्य में वे अभी इससे भी सुन्दर कहानियाँ हिन्दी-साहित्य-भंडार को प्रदान करेंगी। उन जैसी प्रतिभा-सम्पन्न कहानी-लेखिका के लिए यह असम्भव भी नहीं है।

श्री ज्ञान प्रकाश की कहानी 'दो चित्र' में पारिवारिक जीवन का स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। दो चित्र में लेखक ने दो भाभियों का चित्रण किया है जिनमें से "एक आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र, अभिमान में इतराती हुई, अपनी सीमाओं से अनभिज्ञ और उच्छ्रंखल है तथा दूसरी आँसुओं से भींगी, नहायी, परतन्त्र, जड़ और हीन" जान पड़ती है। हम लोग जो नित्यप्रति अपने समाज में देखते हैं। लेखक ने उसी को अपनी कहानी का विषय बनाया है। जहाँ नारी आर्थिक पराधीनता से ग्रस्त है, वहाँ उसकी यही दशा होती है जो कि राजेश की पत्नी की है किन्तु जब नारी आर्थिक दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र हो जाती है तब वह उच्छृंखल और मर्यादा-हीन भी हो जाती है। वस्तुतः इसके लिए पुरुष समाज ही उत्तरदायी है जो कि नारी की परवशता से सर्वदा ही लाभ उठाता आया है। एक अनुरोध हम ज्ञानप्रकाश जी से भी करेंगे कि समस्या का यथातथ्य चित्रण करने के साथ-साथ अब वे ऐसी कहानियाँ भी प्रस्तुत करें जिनमें कि समस्या का निदान भी प्रस्तुत किया गया हो। साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब अवश्य होता है, परन्तु वह प्रेरक भी होता है और उसे गति भी प्रदान करता है। श्री ज्ञानप्रकाश जैसे सफल कहानीकार से यह आशा की जा सकती है।

"ब्लैक काफी" एक मनोवैज्ञानिक कहानी है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीदेवेन्द्र इस्सर की अधिकांश कहानियों में प्रायः मानवीय हृदय की अव्यक्त भावनाओं का ही साकार और मूर्तिमान स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। समस्त कथा ओफीलिया को केन्द्रबिन्दु मानकर चलती है और उसकी भावनाओं को विकसित करते हुए कहानीकार ने 'क्रिस्टलबार' की झाँकी भी दिखायी है। एक साधारण सी 'वेटरस' के भी हृदय होता है तथा वह भी 'बार' के जीवन से अभ्यस्त होते हुए भी एक अवसर

ऐसा आता है जब वह एक ऐसे व्यक्ति का 'मदिरा पान' करना पसन्द नहीं करती जिसके प्रति उसके हृदय में अनुराग की भावना जाग्रत् हो जाती है। "सेक्स मानव की स्वाभाविक भावना है और उसका प्रत्येक रूप सुन्दर होता है" के कथन से सहमत होती हुई भी 'सिनिक काफी' में नारोचित अभिमान और लज्जा की भावना भी है जो साधारणतः एक 'वेटरेस' में नहीं पाई जाती। एक 'वेटरेस' को लेकर इतनी सुंदर मर्मस्पर्शी कहानी लिखने के लिए श्री देवेन्द्र इस्सर निस्संदेह बधाई के पात्र हैं।

सुश्री लीला अवस्थी अभी नवोदिता कहानीकार ही हैं, परन्तु अपनी इन थोड़ी सी कहानियों से ही उन्होंने साहित्य में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। उनकी कहानियों में पारिवारिक जीवन का करुणासिक्त मर्मस्पर्शी चित्रण दृष्टिगोचर होता है और अन्य बहुत सी कहानियों की भाँति उनमें कल्पना की उड़ान का सर्वथा अभाव रहता है। "......ग से गधा और घ से घर" नामक उनकी कहानी भी इसी श्रेणी की है जिसमें टेकनिक की अपेक्षा कथावस्तु की सुसम्बद्धता और भावों की सुघरता ही विशेष रूप से देख पड़ती है। प्रस्तुत कहानी द्वारा लेखिका ने यह दिखलाना चाहा है कि गधा तो जानवर होता ही है, परन्तु जो अपने घर में कलह और दुख संजोता है वह भी गधा ही होता है। कहानी में 'काकी' का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक ही हुआ है और सम्पूर्ण कथा को पढ़ने के उपरान्त यही जान पड़ता है कि उसमें वे ही घटनाएँ वर्णन की गई हैं जो कि अधिकांश भारतीय परिवारों में नित्य प्रति घटती हैं। वस्तुतः आज हमें ऐसी कहानियों की ही आवश्यकता है जो कि एक अभिनव संदेश प्रदान कर सकें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत शीघ्र सुश्री लीला अवस्थी प्रथम श्रेणी की कहानी-लेखिका मानी जाने लगेंगी।

श्री जयसिंह की कहानी 'सुअर के बच्चे' वस्तुतः एक प्रगति-

वादी कहानी ही है जिसमें कि सैकड़ों वर्षों से चली आ रही ठाकुरों को भेंट देने की प्रथा का चित्रण किया गया है तथा लेखक उसके कटु परिणामों को अंकित करके ही मौन नहीं हो गया, अपितु उसने यह आवश्यकता भी अनुभूत की है कि अब इस परम्परा को सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया जाय। कहानी की कथावस्तु सुंदर अवश्य है तथा उसमें टेकनिक पर भी ध्यान दिया गया है, परन्तु कदाचित् स्थान विशेष के शब्दों की बहुलता होने से कहानी कहीं कहीं प्रवाहहीन और नीरस ही जान पड़ती है लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि लेखक में एक सफल कहानीकार की प्रतिभा का अभाव है।

इस संग्रह की सर्वाधिक रोचक तथा हास्यव्यंग्य समन्वित कथा श्री विद्यासागर नौटियाल की 'गलतफहमी' ही है। यद्यपि 'गलतफहमी' में मानव-जीवन की किसी गंभीर समस्या का चित्रण नहीं किया गया और न कोई महत्वपूर्ण समस्या ही उठाई गई है, परन्तु कहानी का क्षेत्र इतना संकीर्ण ही न होना चाहिए। गलतफहमी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी कथावस्तु की नवीनता ही है जिसमें कि यह दिखाया गया है कि किस प्रकार आधुनिक शिक्षित युवतियाँ यह समझ लेती हैं कि उनके संसर्ग में आकर या उनसे आकर्षित होकर युवकजन उन पर तन, मन, धन से न्यौछावर हो जावेंगे परन्तु ऐसे अवसर भी आते हैं जब कि वे गलतफहमी का शिकार हो जाती हैं। कहानी छोटी ही है और चित्ताकर्षक भी है। श्री विद्यासागर नौटियाल से साहित्य-संसार को अभी बहुत कुछ आशा है।

सुश्री निर्मल 'कुसुम' की कहानी 'मास्टर कमीने होते हैं' में मध्यम वर्ग के एक शिक्षक के जीवन की स्वाभाविक झलक चित्रित की गई है। टेकनिक की नवीनता चाहे कहानी में न हो परन्तु भावों की मर्मस्पर्शिता तो उसमें है ही। श्रीकंठ इस कहानी का केन्द्रबिंदु

है और समस्त कथा उसी के इर्द-गिर्द घूमती है। लेखिका इन सामान्य आरोपों के सर्वथा विरोध में हैं कि मास्टर कमीने, कंजूस और अनुत्तरदायी होते हैं। कहानी की भाषा स्पष्ट और सरल है। आशा है लेखिका इससे भी अच्छी कहानियाँ हिन्दी-संसार को प्रदान करेंगी।

'मौन ममता' नामक कहानी में श्री रामपूजन मलिक ने एक ऐसे मातृहीन व्यक्ति का चित्रण किया है जो कि अपने परिवार के किसी भी व्यक्ति का स्नेह प्राप्त नहीं कर पाता, लेकिन हाँ वह महादेव पानवाले की माँ के हृदय की वात्सल्य भावनाओं से अभिभूत अवश्य होता है। महादेव की माँ की हृद्गत् भावनाओं का भी लेखक ने कुशलता से चित्रण किया है। कहानी 'उत्तम पुरुषात्मक शैली' में लिखी गई है और इस प्रकार उसमें अंतस्तल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव, विचार और आवेगों की अभिव्यंजना स्वाभाविक रूप में ही की गई है। आशा है कहानी-जगत् में मलिक जी कुछ नवीन प्रयोगों की ओर भी ध्यान देंगे।

सुश्री गायत्री सक्सेना की कहानी स्वप्नभंग यद्यपि एक रोमांसवादी कथा ही है किन्तु टेकनिक की नवीनता के साथ-साथ उसमें कुछ नवीन भावों का उद्रेक भी हुआ है। "एक ऐसी भी सीमा आती है जहाँ मनुष्य का विवेक और शक्ति डरकर परिस्थिति एवं प्रारब्ध के हाथों में अपने को समर्पित कर देती है" तथा "सहानुभूति मानव का सम्बल है और मानव की सबसे बड़ी दुर्बलता भी" नामक पंक्तियों तथा अवतरणों से पूर्ण 'स्वप्नभंग' वस्तुतः एक ऐसी नारी के जीवन की कथा है जो समाज के क्रूर थपेड़ों से आहत होकर कभी भी अपने स्वर्णिम स्वप्नों को साकार नहीं कर पाई। उसके जीवन में दो पुरुष आए परन्तु वस्तुतः दोनों ही क्रूर प्रतीत होते हैं। पुरुष समाज पर लेखिका का यह कटु व्यंग्य

स्वाभाविक ही जान पड़ता है। इस प्रकार सुश्री गायत्री सक्सेना से अभी साहित्य-संसार बहुत कुछ आशा कर सकता है।

श्री ब्रह्मनारायण शर्मा 'विकल' आज कई वर्षों से हिन्दी साहित्य की सेवा कर रहे हैं तथा अब तक उनकी कई कृतियाँ प्रकाशित भी हो चुकी हैं। प्रस्तुत कहानी 'छोटी बहू जी' की कथावस्तु सर्वथा नवीन है और हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि उसमें न केवल समस्या का चित्रण किया गया है बल्कि उसका हल भी प्रस्तुत किया गया है। प्रायः देखा जाता है कि कलाकार समस्या का चित्रण भर कर देता है लेकिन केवल यही प्रयाप्त नहीं है और उसे उसका हल भी प्रस्तुत करना चाहिए। छोटी बहूजी इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण रचना है कि उसके नायक में इतना अधिक साहस है कि वह एक भिखारी की कन्या को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करता है। हो सकता है अभी हमारा समाज इतना अधिक प्रगति न कर पाया हो परन्तु विकल जी की प्रस्तुत कहानी द्वारा हमें आशा हो चली है कि वह दिन दूर नहीं जब हमारे युवकों में 'छोटी बहूजी' के नायक का सा साहस आ जावेगा। कहानी में स्थल-स्थल पर पारिवारिक जीवन की सरस झाँकी भी प्रस्तुत की गई है और कहानी का प्रवाह कहीं भी अवरुद्ध नहीं होता। हम विकल जी को ऐसी समस्यापूर्ण कहानी के सृजन के लिए हार्दिक बधाई देते हैं।

इधर नवीन कहानीकारों में श्री शिवप्रसाद सिंह भी एक समुज्ज्वल सितारे की भाँति दैदीप्यमान हैं और उनकी कहानियों में प्रायः बहुत सी नवीन समस्याओं का चित्रण रहता है। 'परकटी तितली' में एक ऐसी नारी का चित्रण किया गया है जो कि सुन्दर और युवा है किन्तु अपनी पिपासा तथा बुभुक्षा को मानस में ही संजोये हुए आज तीन वर्षों से अपने अपंग पति जिसे कि जीवित लाश की ही संज्ञा दी जा सकती है के साथ

रह रही है। विवाह के पूर्व या विवाह के पश्चात् कुछ समय तक उसने जो सुनहले स्वप्न देखे थे वे अब स्वप्न ही रह गये हैं क्योंकि 'पहाड़ी की पगडंडी पर वह जिस पुरुष के हाथ का सहारा लिए चल रही थी वह छूट चुका है।' वस्तुत: वह एक 'परकटी तितली' की ही भाँति है। कहानी में कहीं भी कुरुचि उत्पादक अश्लील दृश्यों का चित्रण कहानीकार ने नहीं किया है अन्यथा इस सुन्दर 'थीम' को लेकर यदि कोई दूसरा कहानी लिखता तो निश्चित ही उसे विकृत रूप में प्रस्तुत करता। प्रसाद जी की कहानियों की भाँति प्रस्तुत कहानी का अंत भी मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक है। कदाचित् श्री विनोदशंकर व्यास ने इसी प्रकार की कहानियों को लक्ष कर कहा है–"कहानी में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि थोड़ी देर के लिए पाठक सब कुछ भूलकर उसके पात्रों की भावनाओं के साथ बहने लगे।" आशा है, श्री शिवप्रसाद सिंह इसी प्रकार प्रगति करते रहेंगे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रीशंकरशेष की कहानी 'मुफ़्तखोर' की कथावस्तु सर्वथा नवीन है और शिल्पविधान की दृष्टि से भी उसे एक सफल कहानी माना जा सकता है, परन्तु सम्पूर्ण कहानी को पढ़ने के उपरान्त पाठकों के सम्मुख एक प्रश्न अवश्य उठता है कि वस्तुत: 'मुफ़्तखोर' में समाज या जीवन की ऐसी कौन सी गंभीर समस्या का चित्रण है जिसे कि लेकर इतनी बड़ी कहानी की सृष्टि हुई है। यों तो मुफ़्तखोर कहानी को पढ़ने पर यही जान पड़ता है कि उसमें बीड़ी बनाने वाली सोनिया के मानसिक उद्रेकों के चित्रण की ही ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है तथा साथ ही सिनेमा की टिकटों का काला-बाजार करने वाले एक ऐसे बीस बाइस वर्ष के युवा लड़के के मनोरहस्यों की झाँकी भी प्रस्तुत की गई है जो कि चोरी जैसा घृणित कर्म करता है परन्तु सोनिया द्वारा मुफ़्तखोर कहलाना पसन्द नहीं करता।

सोनिया जब उसे मुफ्तखोर कहती है तब उसका पुरुषोचित स्वाभिमान जाग्रत हो उठता है और वह अपने प्राणों से भी प्रिय बाजे को बेंच कर जो कि उसे पारितोषिक रूप में प्राप्त हुआ था सोनिया को चार दिनों की 'फीस' चुका देता है। बाहर से तो कहानी साधारण ही प्रतीत होती है परन्तु विचार पूर्वक देखा जाय तो हम इस कहानी की उपमा उस आग से दे सकते हैं जो राख द्वारा ढँकी हुई हो। वस्तुतः लेखक ने कई गंभीर समस्याओं को प्रस्तुत किया है। प्रथम तो सोनिया का चरित्र ही समस्यापूर्ण है और उसे जो कार्य विवशतावश अपनाना पड़ता है उसके लिए भी हमारा समाज ही दोषी है। हमें तो उस दिन की प्रतीक्षा है जब कि समाज में सड़ा-गला जीवन व्यतीत करनेवाली हजारों सोनियाँ उसी प्रकार इस गन्दे जीवन को त्याग देंगी जैसा कि हमारे पड़ोसी चीन में हाल ही में हुआ है। कहानी रोचक है और श्री *रायकृष्णदास* के प्रस्तुत कथन को कि—"*आख्यायिका* चाहे किसी लक्ष्य को सामने रखकर लिखी गई हो व लक्ष्य विहीन हो, मनोरंजन के साथ-साथ अवश्य किसी न किसी सत्य का उद्‌घाटन करती है" पूर्णतः चरितार्थ करती है।

श्री आनन्दकृष्ण की कहानी 'ईश्वर' भी एक महत्वपूर्ण समस्या को प्रस्तुत करती है कि क्या ईश्वर न्यायी कहा जा सकता है? चूँकि लक्ष्मी के उपासकों तथा सर्वसामान्य जनता में एक गहरी खाई सी दृष्टिगोचर होती है अतः निर्धनों और धनिकों के मध्य स्वाभाविक ही कोई नाते रिश्तेदारी नहीं होती चाहे फिर वे सगे सम्बन्धी ही क्यों न हो। कहानी का कथानक पुराना अवश्य पड़ गया है परन्तु अभी भी उसमें उठाई गई समस्या के अवलोकन का नित्यप्रति अवसर आता है। छोटी कहानी की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए जैसा कि श्री इलाचन्द्र जोशी ने लिखा है—"कहानी के मूलभावों का सम्बन्ध हृदय से होना

चाहिए, मस्तिष्क की कूट-बुद्धि से नहीं;" प्रस्तुत कहानी में भी हृदयस्पर्शिता ही है।

हिन्दी कथा साहित्य के उद्‌भव से लेकर विकास की चरमावस्था तक न जाने कहानी की टेकनिक में कितने परिवर्तन हुए होंगे और न जाने भविष्य में भी आख्यायिकाओं के शिल्प विधान में कौन-कौन से नए मोड़ दृष्टिगोचर हों। श्री रञ्जन त्रिवेदी की कहानी 'मजार की बातें' के 'टेकनिक' के सम्बन्ध में भी एक प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है कि प्रस्तुत कहानी की शैली किस प्रकार की है। हो सकता है कहानी पर उड़ती सी दृष्टि डालने के उपरान्त कुछ पाठक यह समझ बैठें कि इसकी शैली 'अरेबियन नाइट्स' की भाँति है। कहानी के अन्तर्गत दूसरी अन्य कथाओं को गूँथने से यह संदेह कुछ दृढ़ सा हो जाता है परन्तु जब हम गल्प का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करते हैं तो हमें टेकनिक की सराहना करनी ही पड़ती है। 'मजार की बातें' एक ऐसे उच्च शिक्षित युवक की कहानी है जो बेकारी की समस्या से ग्रस्त होकर अपने जीवन का अंत करने के उद्‌देश्य से श्मशान के किनारे सरिता तट पर पहुँचता है परन्तु वहाँ उसे जीवित रहने की प्रेरणा प्राप्त होती है और वह कठिनाइयों से जूझना सीखता है। इस प्रकार एक ही कथा के अंतर्गत अन्य चार कहानियों का भी चित्रण है किन्तु इससे कथावस्तु की सुसम्बद्धता, एक सूत्रता और प्रवाह में कोई बाधा नहीं पड़ती। रजन त्रिवेदी ने कहानी में कुछ महत्वपूर्ण समस्यायें भी प्रस्तुत की हैं और स्थान-स्थान पर समाज तथा उसके कर्णधारों पर कटु व्यंग्य किए हैं परन्तु एक शिक्षित युवक का अपने ऊपर थूके जाने पर समस्त अपमान सहन कर लेना कुछ उचित नहीं जान पड़ता। उसे कुछ प्रतिकार भी करना था। आशा है, नई पीढ़ी के कहानीकारों में श्री त्रिवेदी का अपना महत्वपूर्ण

स्थान होगा। कहानीकार के साथ-साथ वे एक सफल कवि और एकांकीकार भी हैं।

श्री ज्ञानस्वरूप की कहानी 'कब तक ?' इस संग्रह की संभवत: सबसे छोटी कहानी है। प्रस्तुत कहानी में एक मध्यमवर्गीय अभावग्रस्त परिवार के जीवन की झलक प्रस्तुत की गई है। लेखक ने सीधी सादी भाषा में पारिवारिक जीवन में नित प्रति घटित होनेवाली घटनाओं को चित्रित किया है। यद्यपि कहानी में किसी समस्या का केवल यथातथ्य चित्रण ही अंकित किया गया है तथा उसके निदान की ओर तनिक भी उत्सुकता नहीं दिखाई गई परन्तु कहानी कला के अपेक्षित तत्वों का 'कब तक ?' में अभाव नहीं है और वह श्री प्रेमचन्द के प्रस्तुत कथन को कि "सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो" पूर्णत: चरितार्थ करती है।

श्रीकृष्ण बलदेव वैद्य की कहानी 'उड़ान' में यद्यपि जीवन की किसी गंभीर समस्या का चित्रण नहीं किया गया है, परन्तु रोचकता और शिल्प विधान की उत्कृष्टता की दृष्टि से कहानीकार के प्रयास की सराहना करनी ही पड़ती है। आशा है, भविष्य में वैद्य जी मानव-जीवन तथा समाज की महत्वपूर्ण गंभीर समस्याओं को भी अपनी लेखनी का विषय बनावेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनमें एक सफल कहानीकार की सी प्रतिभा विद्यमान है।

शीर्षक से ही अत्यधिक आकर्षक प्रतीत होनेवाली श्री अवधप्रसाद वाजपेयी की कहानी 'नीड़ के मिथुन' में भी सुश्री निर्मल कुसुम की कहानी 'मास्टर कमीने होते हैं' की भाँति एक मध्यमवर्गीय शिक्षक के पारिवारिक जीवन की झाँकी अंकित की गई है परन्तु दोनों की कथावस्तु और टेकनिक में बहुत कुछ असमानता भी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'नीड़ के मिथुन' का शिल्प विधान 'मास्टर कमीने होते हैं' की अपेक्षा बहुत अधिक

श्रेष्ठ है परन्तु भाषा की क्लिष्टता और कथनोपकथन की अधिकता के फलस्वरूप वह उतनी अधिक हृदय स्पर्शी प्रतीत नहीं होती। वाजपेयी जी पर कदाचित् प्रसाद की भाषा शैली का विशेष प्रभाव पड़ा है कदाचित् इसीलिए उन्होंने यत्र तत्र अर्थ-गर्भी सूत्रों की अभिव्यक्ति भी की है। इस प्रकार 'नीड़ के मिथुन' न केवल शैली की दृष्टि से बल्कि मानव जीवन की गंभीर समस्याओं का चित्रण करने के फलस्वरूप एक प्रौढ़तम रचना प्रतीत होती है।

श्री रज्जन त्रिवेदी की कहानी 'मजार की बातें' में जिस प्रकार एक साथ पाँच कहानियाँ संगुफित की गई हैं उसी प्रकार श्री हंस कुमार की कहानी "..........और गाड़ी चलती रहेगी" में भी मूल कथा के साथ साथ एक उपकथा भी विद्यमान है। प्रस्तुत कहानी में भी निम्न मध्यम-वर्गीय पारिवारिक जीवन की झलक दिखाई गई है और साथ ही साथ प्रेम के क्षेत्र में ठुकराए गए एक युवक गोपाल के जीवन के दुखद अंत का भी चित्रण किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि श्री हंसकुमार ने अपनी कहानी में जिन पात्रों का चरित्र चित्रण किया है वे हमारे समाज में विद्यमान हैं और इस प्रकार वास्तविकता पूर्ण पृष्ठ-भूमि को अंकित करने के फलस्वरूप "........और गाड़ी चलती ही रहेगी" कहानी को एक सफल प्रयास माना जा सकता है परन्तु लेखक को अपने शिल्प विधान को परिष्कृत करने की ओर भी सम्यक् ध्यान देना चाहिए।

नवीन एकांकीकारों और कहानी लेखकों में श्री शंकर पुणतांबेकर ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है तथा मानवीय मनोरहस्यों के उद्घाटन में उन्हें आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई है। 'एक सिनेमा शो' में एक ऐसे प्रोफेसर की कथा चित्रित की गई है जो अपनी पत्नी वीणा को प्रेम नहीं करता किन्तु अपनी छात्रा

श्यामकला की ओर शनैः शनैः आकर्षित हो जाता है। छात्रा भी केवल मात्र डिवीजन प्राप्ति की लालसा से प्रोफेसर की ओर उन्मुख हो उठती है लेकिन जब एक दिन सिनेमा हाल में वे उस छात्रा को एक दूसरे सहपाठी के साथ देख लेते हैं तो उनका स्वप्न भंग सा हो जाता है और उन्हें अपनी पत्नी वीणा की स्मृति हो उठती है। लेखक ने हमारी शिक्षा-पद्धति में डिवीजन प्राप्त करने में प्रयोग में आनेवाले साधनों पर तो व्यंग्य किया ही है तथा साथ ही मानव मन का भी विश्लेषण किया है। पुणतांबेकर में सफल कहानीकार की सी प्रतिभा विद्यमान है और हिन्दी कहानी साहित्य को अभी उनसे बहुत कुछ आशाएँ हैं।

श्री राजमल जैन की कहानी "..आपका काम हो जायगा।" कहानी की अपेक्षा कहीं कहीं आत्मपरक निबन्ध का रूप सा धारण कर लेती है परन्तु उसमें पूँजीवादी जगत् पर जो कटु व्यंग्य किये गए हैं वे निश्चय ही आख्यायिका की शोभा वृद्धि में सहायक हैं। लेखक ने सिफ़ारिशी जगत् की वास्तविकता पूर्ण झांकी प्रस्तुत की है तथा किस प्रकार आजकल दूसरों के काम को टालने की प्रवृत्ति बड़े लोगों में विद्यमान है; इस पर भी प्रकाश डाला है। कहानी का नायक, डा० मनोहरलाल तथा सेठ जी जैसे व्यक्ति किसी काल्पनिक जगत् की सृष्टि नहीं हैं बल्कि आज भी हमारे समाज में विद्यमान हैं। देश के लिए विधान बनानेवाली सभा के सदस्य सेठ जी की अशिक्षता और स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति को भी लेखक ने अपनी कहानी का विषय बनाया है। इस प्रकार कहानी कला के अपेक्षित तत्त्वों का पूर्ण रूप से संगुफन न होने पर भी प्रस्तुत कहानी के महत्त्व तथा उपयोगिता में कोई कमी नहीं प्रतीत होती है और उसे एक सफल समस्यापूर्ण कथा माना जा सकता है। यदि श्री जैन शिल्प विधान की ओर भी

सम्यक् ध्यान दें तो उत्कृष्टतम कहानियाँ प्रस्तुत कर सकेंगे। उनमें प्रतिभा तो विद्यमान है ही।

श्री दामोदर सदन की कहानी 'मेजर श्रीनाथ का वसीयतनामा' भी यद्यपि कथा के विधायक तत्त्वों से रहित सी है, परन्तु मानव-जीवन की जिस गंभीर समस्या का चित्रण किया गया है वह अवश्य कहानी को सजीव बना देती है। किसी भी पिता को अपने लड़कों के लिए इतनी सम्पत्ति छोड़कर न मरना चाहिए कि उसके लड़के निकम्मे हो जायँ या फिर पिता की मृत्यु की बाट जोहें; यही प्रस्तुत कहानी का मूल उद्देश्य है। कहानी की पृष्ठभूमि को देखते हुए कहीं-कहीं कथा की मौलिकता पर संदेह सा होने लगता है। परन्तु श्री विनयमोहन शर्मा के प्रस्तुत कथन के अनुसार कि "जो साहित्यकार किसी के भावों की शराब को उंड़ेलने के लिए भी अपनी बोतल तैयार नहीं कर पाता वह सत् साहित्यकार नहीं है, केवल दंभमात्र रचता है।" प्रस्तुत कहानी की मौलिकता पर संदेह करना युक्तिसंगत नहीं है। यदि लेखक टेकनिक तथा भावों की नवीनता की ओर सम्यक् दृष्टि दे तो अच्छी कहानियाँ प्रस्तुत कर सकता है।

श्री वल्लभ अग्रवाल की कहानी 'रोज की बात' की भाँति 'अपना रिक्शा' में भी श्री गिरीशमोहन ने एक रिक्शेवाले के जीवन का ही चित्रण किया है। किस प्रकार रिक्शेवाला अपना निजी रिक्शा लेने तथा छोटे से परिवार को बसाने का स्वप्न देखता है, किन्तु कठोर परिस्थितियों और संघर्षों के फलस्वरूप वह अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में असफल ही रह जाता है; कहानीकार ने इसी बात को विस्तार के साथ चित्रित किया है। कहानी की भाषा सुन्दर तथा मानवीय मनोरहस्यों का उद्घाटन भी कुशलता से हुआ है। श्री गिरीशमोहन ने कठोर से कठोर

परिस्थितियों में भी भयग्रस्त न होने को प्रेरणा देकर स्तुत्य कार्य किया है।

रेखाचित्रों को भी बहुत से विद्वानों ने कहानी के ही अंतर्गत मान लिया है तथा श्रीमती महादेवी वर्मा आदि के रेखाचित्र कहानी ही माने जाते हैं। अत: श्री शेखर जोशी की कथा 'दाज्यू' जो कि साधारण दृष्टि से एक स्केच ही मानी जा सकती है, प्रस्तुत संग्रह की महत्वपूर्ण कृति है। दाज्यू में एक पहाड़ी युवक का चित्र अंकित किया गया है जो कि सुसंस्कृत कहे जानेवाले व्यक्तियों के संपर्क में आना चाहता है, परन्तु ये सफेदपोश व्यक्ति अपनी दुनिया में उसका प्रवेश स्वीकार नहीं करते। 'दाज्यू' का शिल्प विधान भी सराहनीय है और श्री शेखर जोशी इतनी सुन्दर कथा लिखने के लिए निस्संदेह बधाई के पात्र हैं। कोई आश्चर्य न होगा, यदि वे शीघ्र ही प्रथम श्रेणी के कहानीकार माने जाने लगें।

इधर श्री रवीन्द्रनाथदेव के कई रेखाचित्र प्रकाशित हुए हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि वे एक सफल कहानीकार माने जा सकते हैं। 'मुन्नन मियां' उनकी लेखनी की एक सुन्दर कथा है जिसमें कि कहानीकार ने मुन्नन मियां का मर्मस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत किया है।

संग्रह की अंतिम कहानी 'परछाइयों की तस्वीर' एक रोमांसवादी कहानी है, किन्तु उसका शिल्प-विधान चित्ताकर्षक और प्रभावोत्पादक है। स्थल-स्थल पर कहानीकार ने अन्तर्जगत् की भावनाओं की कुशलतापूर्वक अभिव्यक्ति की है। यदि श्री अनन्त जी जीवन की गंभीर समस्याओं को भी अपनी लेखनी का विषय बना सकें तो कोई आश्चर्य न होगा कि वे एक सर्वमान्य कहानीकार माने जाने लगेंगे। कहानी में प्रवाह की ओर भी उन्हें ध्यान देना चाहिए।

प्रस्तुत संकलन की कहानियों का अध्ययन करने पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि द्विवेदी युग से लेकर अभी तक हमारा कथा-साहित्य निरन्तर प्रगति करता आ रहा है और हमें पूर्ण आशा है कि हमारी नई पीढ़ी के ये कहानीकार साहित्य-गगन के समुज्ज्वल नक्षत्र सिद्ध होंगे और उनकी कहानियाँ साहित्य में श्रेष्ठतम स्थान पावेंगी, परन्तु इसके लिए पर्याप्त परिश्रम, लगन और धैर्य की आवश्यकता है तथा साथ ही दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ अपनी त्रुटियों को सुधारना भी अत्यन्त आवश्यक है।

हंसापुरी, भंडारा रोड,
नागपुर (म० प्रा०)

शृंखला की खोई कड़ी

[सुश्री त्रिपुला देवी]

अलका एक अच्छे धनी घराने की लड़की थी। उसके दर्जनों नाते रिश्तेदार थे और उनमें से कई लोग तो उच्च पदारूढ़ और समाज में सम्मानित गण्य-मान्य व्यक्ति भी थे। किन्तु जैसा कि प्राय: देखा जाता है, अलका को अपने उन सम्बन्धियों से न तो बौद्धिक उन्नति में कोई सहायता मिली और न सांसारिक जीवन-यापन के गुरु संघर्ष कार्य में ही। उसने अपने पिता के साथ अकेले ही अपना बचपन व्यतीत किया। उसके बाद उसे अकेले ही छात्रावास में रहना पड़ा। उसके पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी और वे अलका की विशेष परवाह भी नहीं करते थे। फिर भी उसने किसी प्रकार अपनी उच्च शिक्षा जारी रखी। किसी साहित्यिक सम्मेलन में अलका की भेंट मिनी से हुई और दोनों ने एक दूसरे का परिचय प्राप्त करके हार्दिक उल्लास का अनुभव किया। दो-चार भेंटों के अनन्तर दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया। अलका के समान मिनी भी मातृहीन लड़की थी। लेकिन उसके कोई रिश्तेदार नहीं थे, जिससे उसे अपनी दुर्बलता पर सोचने का कोई अवसर मिलता। उसके पिता किसी बीमा कम्पनी के एजेन्ट का काम करते थे और उन्हें अधिकतर बाहर रहना पड़ता था। किन्तु उन्हें अपनी लड़की की योग्यता और चरित्र पर अहंकार था। दूसरा महायुद्ध छिड़ जाने के कारण जब चीजें महँगी होगई और सेना में आदमियों की बढ़ती

मांग से, जन सधारण को घरेलू नौकर मिलने कठिन हो गये, तब मिनी ने स्वयं काम कर लेने की श्रेष्ठता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया और कालेज की पढ़ाई छोड़कर निजी अध्ययन एवं काम काज में समय बिताने लगी। उसके हंसमुख स्वभाव में पर्याप्त आकर्षण था और वह बुद्धिमती थी ही। अतएव अलका उसको बहुत मानने लगी और उसकी धारणा हो गई कि मिनी बौद्धिक स्तर में उससे कहीं ऊँची है। वह उससे अपने हृदय की सारी बातें खोल कर बता दिया करती थी और उसके परामर्शों से लाभ उठाने की इच्छा रखती थी।

एक दिन अलका हँसती हुई आई और मिनी का हाथ पकड़-कर कहने लगी—"मिनी तू किस प्रकार कहानियाँ लिखती है। यदि मैं किसी प्रकार यह कला सीख सकूँ तो क्या न कर डालूँ। डाक्टर के पास मैं गई थी अपने सिर-दर्द की दवा लेने, पर उसने मुझे सलाह दी कि दवा खाने के साथ-साथ मैं कहानियाँ भी लिखा करूँ, तो शीघ्र आरोग्य लाभ कर सकती हूँ।"

"क्यों, ऐसा डाक्टर ने किस कारण कहा?"

"उसने मुझसे पूछा कि मैं सोते समय क्या नींद में अक्सर सपने देखा करती हूँ और उसने जानना चाहा कि वे सपने कैसे होते हैं? मैंने बताया कि नींद में तो मैं कोई सपना नहीं देखती, किन्तु प्राय: जागते हुए मुझे स्वप्नवत् विचित्र दृश्य प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। उदाहरण के लिए मैं कल एक परिचित के घर गई थी। कुछ बात चीत के अनन्तर सब स्त्रियाँ कार्यवश इधर-उधर हो गईं, मैं अकेली आँगन में बैठी रह गई। जान पड़ता है कि मैं कुछ अन्यमनस्क हो गई थी, क्योंकि मेरी सहेली कब लौट आई, इस बात का पता तक मुझे नहीं चला। उसने किंचित् मुसकान सहित पूछा— "अलका, इतनी देर से तुम आकाश में क्या देख रही हो। मैंने चौंक कर चतुर्दिक देखा, कहीं कुछ नहीं था। थीं तो केवल सफेद पुती हुई ऊँची दीवारें, जिन पर कहीं कहीं चूने की सफेदी फीकी पड़ गई

थी और जिस पर भाँति-भाँति की आकृतियाँ उभर रही थीं। आंगन में रखे हुए मंजे बर्तनों, बिना बिस्तर की खाटों तथा इधर-उधर सूखने के लिए डाले हुए वस्त्रों के ऊपर से, घूम फिर कर मेरी आँखें दीवाल पर जम गईं। मुझे प्रतीत हुआ कि जैसे दीवाल फोड़कर अभी हाथी-घोड़ों की फौज निकल पड़ेगी और विविध आकृतियों के पक्षीगण निकल-निकलकर चारों ओर मँडराने लगेंगे। इसके बाद मनुष्यों के विविध नमूनों की बारी आयेगी। कोई सैनिक बैंड बजाता हुआ आगे बढ़ेगा। उसके पीछे एक भिखारी टूटा प्याला हाथ में लिए करुण स्वर में प्रलाप करता दिखाई देगा। फिर एक राजा की सवारी निकलेगी और उसके पीछे अजन्ता की चित्रांकित राजकुमारी जैसी मुखाकृति वाली एक सुन्दर नर्तकी नाचती हुई आयेगी। मैंने सोचा कि यह क्या कोई स्वप्न है या मैं ही पागल हो गई हूँ कि यह सब मुझे दिन-दहाड़े दिखायी देने लगा। मैंने आँखें मलीं, देखा कि वही अकल्पनीय दृश्य सामने उपस्थित है। वे लोग जैसे सप्राण हो उठे और उस दीवाल पर चलचित्र की छाया प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। अभी हवाई जहाज था, पल भर में वह मगर-मच्छ बन गया, और तीसरे ही क्षण उसने किसी परी का रूप ग्रहण कर लिया। वह परी अपने पर फैलाकर जैसे ही उड़ने के लिए तैयार हुई कि उसके पार्श्व में एक हृष्ट-पुष्ट बालक प्रकट हो गया और एक बाँह ऊपर उठाकर, परी से गोदी ले लेने का आग्रह करने लगा। परी ठिठक कर खड़ी हो गई!"

मिनी सुनकर हँस दी और उसका कथन पूरा होने का मार्ग बिना देखे बोल उठी—"वाह! बड़ी पैनी दृष्टि है तुम्हारी और कल्पना भी उतनी ही उन्मुक्त।"

"और सुनो! मैंने देखा कि अजन्ता की राजकुमारी के रूप वाली नर्तकी यह दृश्य देखकर विचित्र भाव-भंगिमा प्रदर्शित

करते हुए मुस्करा रही है। लेकिन राजा उसकी ओर ऐसे गर्दन मोड़कर देख रहा है, मानों कह रहा हो कि तुम राजकुमारी हो तो क्या हुआ, पैदल भूमि में चल रही हो! मैं राजा हूँ, मेरे पास हाथी और सिपाहियों की पूरी फोज है। इतने में मैंने सहेली का कंठ स्वर सुना, वह पूछ रही थी कि 'अब दीवार में क्या देखने लगीं। तुमको क्या हो गया है!' दृश्य आँखों के सामने से लुप्त हो गया और मैंने एक साँस ली! मैं आखिर किसी को क्या बताती कि मैं दीवार में क्या देख रही हूँ, बताने पर वे लोग क्या समझते, यह पता नहीं। लेकिन मैंने डाक्टर को यह बता ही दिया ....।"

"और उसने तुमको कहानी लिखने की सलाह दी!"

"हाँ .... !"

"तो फिर तुम लिखा करो!" मिनी ने कहा।

"परन्तु किस प्रकार!" अलका ने गंभीर होकर पूछा। वास्तव में वह चिन्तित हो उठी थी, क्योंकि बात हँसी में उड़ाने के योग्य नहीं थी। उसने कहा—"दिनों दिन मेरी हालत खराब होती जा रही है। प्राय: जब गहन रात्रि में मेरी निद्रा भंग हो जाती है, तब सहसा मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं स्वर्ग में पतित हो गई। कभी-कभी किसी भूली स्मृति का आभास, मेरे दिमाग में जागने के बाद भी बना रहता है। उस समय ऐसा लगता है कि मैंने कोई सपना देखा था, किन्तु क्या देखा था, यह बहुत सोचने पर भी मुझे स्मरण नहीं आता है। मेरे मन के ऊपर सारे दिन एक बोझा सा लदा रहता है, किसी काम में मेरा जी नहीं लगता है। ऐसा विदित होता है कि कोई बहुत जरूरी बात भूल गई हूँ, कोई बहुत ही आवश्यक काम बाकी पड़ा है। लेकिन हाय, मेरी स्मृति! बहुत प्रयत्न करने पर रात में देखा हुआ सपना मुझे

सवेरे तक याद नहीं रहता है। मैं बहुत परेशान हूँ।"

आश्विन मास के आरम्भ में, बरसाती अमरूदों और फूटों का प्रभाव व्यापक रूप से दिखाई पड़ने लगा। वर्षा ऋतु के बादलों के छँटते ही उत्तर भारत के गांव-गांव और नगर नगर में मलेरिया ज्वर एवं यकृत्प्लीहा सम्बन्धी रोगों की बाढ़ आ गई। धूप से आकर एक दिन अलका ने ताजे भुने भुट्टे खाकर पानी पी लिया। इस डबल बदपरहेजी के कारण उसी दिन उसे जूड़ी आ गई। यह ज्वर मामूली मलेरिया ज्वर से अधिक भयानक और प्रबल रूप धारण कर लेता है। साधारणतः हिन्दुस्तानी लोग इस शीतज्वर की कोई दवा-दारू नहीं करते और बुखार उतरने के बाद रोटी-दाल प्रभृति वस्तुएँ खा लेते हैं। निदान प्लीहा और यकृत खराब हो जाने से वे जल्द ही मौत के गाल में समा जाते हैं। शहरों तक में, ऐसे ज्वर में डाक्टरी दवायें नहीं चलतीं। अलका ने दो-चार दिन तक ज्वर की कोई परवाह नहीं की, क्योंकि प्रारम्भ में ज्वर दो-तीन घंटे रुक कर फिर उतर जाता था। परन्तु बहुत जल्द ही उसका कष्ट बढ़ गया। उसने मिनी को खबर भेजी। समाचार पाकर मिनी जब उसे देखने गई, तब वह अपने कमरे में अकेली शय्या पर लेटी हुई मिली। मिनी को देखकर उसके मुरझाये क्लान्त मुखमंडल पर हर्ष की चमक आ गई। उसने कहा—"मैं जानती थी कि चाहे कोई न आए, किन्तु तुम खबर पाते ही आओगी।"

"मैं आती क्यों न! घर से खबर नहीं भेजी है?"

"नहीं। मैंने सोचा कि आजकल किसी आफिस या अदालत में छुट्टी नहीं है। वे लोग मेरे पास कैसे आयेंगे? दो-चार दिन में ज्वर उतर ही जाएगा, तब क्यों उनको समाचार देकर व्यर्थ में चिन्तित करें। कोमल मुस्कान-सहित अलका ने जवाब दिया।"

"तुमको दवा इत्यादि कौन देता है ?"

"वैसे जब बुखार उतर जाता है, तब मैं स्वयं ले लेती हूँ। ज्वर की हालत में लक्ष्मी दीदी ही सब कुछ करती हैं ?"

ये लक्ष्मी दीदी, नीचे की मंजिल में रहनेवाले परिवार की विधवा बहू थीं। वैधव्य ने उनको दीन और असमर्थों के प्रति सहानुभूतिमयी बना दिया था। दुर्भाग्यमयी समझ कर, उनके प्रति उनके घरवाले संकीर्ण भाव रखते थे और दूसरी विधवाओं के समान उसको भी बहुत काफी कष्ट उठाने पड़ते थे। इसलिए अलका जैसी स्वाधीन चेतना-सम्पन्न, उच्च शिक्षिता लड़की के संसर्ग की उन्हें आवश्यकता थी। वे स्वयं अलका के लिए आग्रह पूर्वक भोजन बनाने लगी थीं और उसका काफी ख्याल रखती थीं। मिनी को भी कई बार उन्होंने चाय आदि बनाकर पिलाई है, वह उनसे परिचित थी। अतएव पूछा—"और दवा किस डाक्टर की होती है ?"

"अभी तो किसी डाक्टर को नहीं बुलाया गया है। लक्ष्मी दीदी ने कोई काढ़ा बनाकर दिया है।"

तब मिनी ने उस कमरे की बिखरी वस्तुएँ ढंग से सजाकर रखीं और सुगन्धित धूप सुलगाई। फिर जाकर नगर के सबसे प्रख्यात डाक्टर को बुला लाई, उन्होंने अपने सूक्ष्म यंत्रों से अलका की भली भाँति परीक्षा की। इसके बाद हँसकर बोले—"डरने की कोई बात नहीं है, दो-चार दिन में यह चंगी होकर दौड़ने लगेगी।"

लेकिन घर के बाहर जाकर पूछा—"क्या किसी अप्रत्याशित निराशा का सामना इन्हें करना पड़ा है ?"

"नहीं तो, वह अत्यन्त उत्साही लड़की है और हताश होने की बात कभी सोचती ही नहीं है।"

"वह किस बात को विशेष रूप से पसन्द करती है ?"

"स्वावलम्बन को सबसे अधिक और यही कारण है कि बी० ए० में पढ़ते समय यह अपने खाली घंटों का उपयोग, निचली कक्षाओं को पढ़ाने में करती रही थी। इधर यह डाक्टरेट के लिए, मूर्तिकला के विकास विषय पर एक खोजात्मक निबन्ध लिख रही थी ?"

"तो क्या वह अधिक भावुक है ?"

"मामूली रूप से नहीं, क्योंकि प्रत्येक बात उसे प्रमाणों एवं तर्कों के आधार पर सिद्ध करनी पड़ती है। इसलिए बेबुनियाद भावुकता के लिए उसे कोई अवकाश नहीं रहता, किन्तु आप यह जानते ही हैं कि उसे मूर्तिकला के विषय में कई घंटे लगातार सोचना पड़ता रहा है और इसमें प्रखर कल्पना की पर्याप्त आवश्यकता पड़ती है।"

"तो अत्यधिक मानसिक परिश्रम से उत्पन्न दुर्बलता के कारण उसकी ऐसी अवस्था है ! कृपया यह पता लगाइये कि अब उसे कौन विचार अधिक सता रहा है ?"

डाक्टर को बिदा करते हुए मिनी ने वादा किया कि वह इस बात का ध्यान रखेगी। लेकिन एक पखवारा बीत जाने पर भी अलका की अवस्था नहीं सँभली और वह उत्तरोत्तर शीर्ण शरीर होती गई। ज्वर प्रतिदिन न चढ़-उतरकर, तीसरे दिन चढ़ने उतरने लगा। अब वह कठिनाई से, तकिये के सहारे कुछ मिनट बैठी रह सकती थी। दिन भर मिनी उसके पास रहती, परन्तु रात को अपना घर न छोड़ सकने के कारण, वह रात में अलका से पृथक् हो जाने के लिए विवश हो जाती। उस समय अलका के पास उसकी नौकरानी तथा उसकी लक्ष्मी दीदी रहतीं।

लेकिन एक दिन प्रातःकाल सोकर उठने पर अलका ने सदैव के समान मुँह धोने के लिए पानी नहीं माँगा। वह चुपचाप पलंग पर पड़ी, कमरे की छत की कड़ियाँ ताकती रही। मिनी

ने आकर देखा कि फल और दूध ज्यों के त्यों शय्या के सिरहाने वाली चौकी पर रखे हुए हैं और लक्ष्मी दीदी के बहुत कहने पर भी अलका दवा पीने के लिए तैयार नहीं हो रही है। उसने स्नेहपूर्वक कहा—"अलका, दवा पी लो। इससे शीघ्र आरोग्य लाभ करने में सहायता मिलेगी।"

क्षीण स्वर में अलका ने उत्तर दिया—"अच्छे होने के बाद क्या होगा? मुझे जीकर क्या करना है, जितनी जल्दी मेरा जीवन समाप्त हो जाय, अच्छा है।"

मिनी स्तब्ध होकर एक क्षण उसके मुख की ओर ताकती रही। तदनन्तर विह्वल स्वर में उसने पूछा—"ऐसी निराशा-जनक बातें क्यों कहती हो?"

"इसलिए कि जिस जीवन की कोई उपयोगिता न हो, उसके बचे रहने की आवश्यकता कुछ नहीं है। जल के स्रोत का आना रुकते ही नदी सूख जाती है और देखते-देखते उसका अस्तित्व तक मिट जाता है।"

अलका ने अटकते कंठ से अपने विचार व्यक्त किए। मिनी के पहले तो निराशात्मक विचार को मिटाने के लिए कई तर्क उपस्थित किए और जीवन की महत्ता समझाई। किन्तु अलका ने कहा—"दूसरे हजारों लोगों के जीवन-यापन के ढंग में और मेरे जीवन में क्या अन्तर है, जो मैं उसे अपना जीवन कह सकूँ। वे लोग छोटी-छोटी बातों पर चिन्तित होते हैं, रोते-गाते और हँसते हैं। अपने खाने-पीने की व्यवस्था करते हुए सारा जीवन गुजार देते हैं और अंत में मर जाते हैं। जीकर मैं भी यही करूँगी तो फिर चाहे चार दिन पहले मर जाऊँ और चाहे पीछे मरूँ। इससे क्या होता है?"

मिनी ने उसे समझाकर उस समय तो दवा पिला दी, किन्तु उसकी बातों से बहुत डरकर उसने अलका के कई धनी

सम्बन्धियों को उसके स्वास्थ्य के विषय में तार द्वारा सूचनाएं भेज दीं। इसके बाद डाक्टर को सब बताते हुए वह रो दी। कहा—"वह समझती है कि उसके जीवन का कोई उपयोग नहीं है, वह जीना नहीं चाहती और मरने की बात सोच रही है!"

डाक्टर ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—"जीवन के प्रति उसकी दिलचस्पी बढ़ाने का तुम प्रयत्न करो, वह बच जायगी। उसकी शारीरिक दशा उतनी निराशाजनक नहीं है, जितना कि कमजोर मस्तिष्क है।"

(३)

दो दिन और बीते। अलका की मनोदशा में कोई सुधार नहीं हुआ। उसके कई सम्बन्धी उसे देखने आए और उन्होंने उसकी चिकित्सा के लिए कई डाक्टर बुलाए, किन्तु इस बात का कोई प्रभाव अलका पर नहीं पड़ा। उसने चुपके से मिनी को बताया—"मेरी छाती के भीतर जैसे सब कुछ जम कर पत्थर होता जा रहा है। इन लोगों की आवाज सुनकर मुझे चिढ़ लगती है और छाती के अन्दर जमा पदार्थ जैसे कठोर होकर फैलता जा रहा है।"

कुशाग्र-बुद्धि डाक्टर ने यह सुनकर अपना मन्तव्य प्रकट किया—"वह उन लोगों से स्नेह नहीं करती है, उनको उसकी शय्या के पास मत जाने दो!"

लेकिन हिन्दुस्तान में कोई बाहरी आदमी, किसी रोगी के निकट संम्बधियों से यह नहीं कह सकता कि रोगी उसे नहीं चाहता, भले ही बीमार तथा उसके सम्बन्धियों में आजीवन चिर शत्रुता रही हो। क्योंकि यह लोक-परम्परा है और शिष्टता के सदाचार के विरुद्ध आचरण करनेवालों को यहाँ नीची दृष्टि से देखा जाता है। निदान डाक्टर को विवश होकर, अलका को

अस्पताल ले जाना पड़ा और वहाँ उससे मिलने के लिए आये लोगों पर पूरी रोक लगा देनी पड़ी। उसके पास केवल मिनी ही रह गई, जो रात-दिन उसकी सेवा में लगी रहती थी।

उस दिन रात को मिनी ने सुना कि अलका सोते-सोते कुछ संस्कृत-वाक्य बड़बड़ा उठती है। मिनी संस्कृत भाषा से कुछ-कुछ परिचित थी, किन्तु अलका ने संस्कृत में एम० ए० किया था और संस्कृत की बहुत अच्छी ज्ञाता थी। फिर भी ध्यान देकर सुनने पर उसे विदित हुआ कि अलका उन वैदिक प्रार्थनाओं को दोहरा रही है, जो मरणासन्न व्यक्तियों के लिए ही हैं और जिनमें प्राण से वायु तत्व में तथा नेत्र - ज्योति से सूर्य में विलीन हो जाने सरीखी बातें कही गई हैं। शायद अलका सन्निपात में यह बड़बड़ा रही है, यह सोचकर मिनी डर गई। उसी समय डाक्टर ने आकर अलका को देखा और कहा—"स्थिति अभी साँघातिक नहीं है, किन्तु नींद तक में वह मृत्यु का आवाहन करने लगी है, यह बात बहुत चिन्ताजनक है। जीवन के लिए उसे कोई दृढ़ आधार चाहिए, जिससे वह जीवन की ओर आकर्षित हो।"

दूसरे दिन विजयादशमी थी। मिनी ने अलका की शय्या कमरे की खिड़की के समीप खिसका दी, जिससे वह सड़क पर से गुजरती भीड़ को देख सके और इससे उसका ध्यान मृत्यु की ओर से बँट जाय। देर तक वह रामलीला के मैदान की सजावट, उत्सव-समारोह एवं जनता के उत्साह का वर्णन करती रही, जिनमें से अधिकतर बातें काल्पनिक थीं। अलका लेटे-लेटे कभी आँखें खोलती और कभी बन्द कर लेती। आखिर उसने इच्छा प्रकट की कि उसे तकिये के सहारे बैठा दिया जाय।

मिनी ने कहा—"बैठने पर तुम थक जाओगी और इससे

तुम्हारी क्लान्ति बढ़ जायगी। इससे बल्कि तुम लेटे-लेटे राम-चरित्र का मनन करो, तो अच्छा हो।"

"पर इससे क्या तुम समझती हो कि जीवन बाँधा जा सकता है ? यदि ऐसा हो सकना किसी भी प्रकार संभव होता, तो मृत्युकाल में हवालात में बन्द कर देने से मनुष्य मृत्यु से बच जाता। आखिर मुझे मरना है ही, फिर इतने रोक-थाम के प्रयत्न क्यों ?"

तब कुछ सोचकर मिनी ने उसे कई तकिये लगाकर, उनके सहारे बैठा दिया और कहा कि "अच्छा पाँच मिनट तक बैठी रहो, पर बाद में जिद मत करना।"

अलका तीन मिनट तक एकटक सड़क पर आने-जानेवालों की ओर देखती रही, फिर अकस्मात् उसके मुँह से एक आह निकल गई। घबराकर मिनी ने उसे तुरन्त लिटा दिया और पूछने लगी—"क्या हुआ·······? कोई तकलीफ हो रही है····?"

"नहीं।" अलका ने दुःख भरे स्वर में कहा—"तुमने पैदल जानेवाले उस दुबले लड़के को क्या नहीं देखा ? वह अधिक से अधिक अठारह साल का होगा, लेकिन उसकी चाल से मालूम होता है कि वह कालेज में पढ़नेवाला युवक है और इसलिए परदेश में रहता है। ओह ! तुमने उस सड़क के किनारे बने हुए छात्रावास को क्या देखा है ? दो साल में वहाँ अब तक केवल कोठरियों की एक लम्बी पाँति बन सकी है। उनकी दीवारों पर पलस्तर तक नहीं हुआ है, फिर भी गाँवों से शहर में आकर पढ़ने के लिए आनेवाले बेचारे लड़के उन्हीं में रहते हैं। उन कोठरियों में अँधेरा और सीलन है, फिर भी मकानवाले उनसे उतना ही किराया वसूल करते हैं, जितना होस्टल के कमरों का पड़ता है, जिनमें बिजली, पंखा, खाने इत्यादि का अच्छा प्रबन्ध है।" कहते-कहते अलका हाँफ उठी। कमजोरी के कारण वह अधिक

बातें नहीं कर सकती थी। मिनी ने उसे बोलने से मना किया, किन्तु कुछ देर सुस्ताकर अलका ने कहा—"मेरी बात सुनो तो। उस छात्रावास में वे ही लड़के रहते हैं, जिनको होस्टलों में स्थान नहीं मिलता। उसमें अब तक भोजनालय वाला भाग नहीं बना है, जिससे कोई सम्मिलित भोजनालय चलाया जा सके। लड़के या तो मैदान में दो चार ईंटों का चूल्हा बनाकर खुद रोटी बनाते-खाते हैं या किसी फेरीवाले से पूड़ी-तरकारी मोल लेकर खा लेते हैं। लेकिन पूड़ियाँ वनस्पति तेल में बनी होती हैं, जिसे वे ठीक से हजम नहीं कर पाते। इससे उनकी पाचनशक्ति बिगड़ती और वास्तविक भूख नष्ट होने लगती है। अनियमितता से रहने के कारण उनके चेहरे फीके पड़ते जाते हैं। पर उनकी ओर कौन देखे? अभी जो लड़का इधर से गया है, वह उन्हीं में से एक है, जिसने आज विजयादशमी के दिन भी खाली पेट घूमते हुए बिता दिया है और किसी ने उससे कुछ नहीं पूछा। ...।"

"मिनी ने उसका अभिप्राय समझ कर कहा—"लेकिन आज सर्वत्र विजयादशमी की छुट्टियाँ हैं। छात्रावासों के सब लड़के अपने घर चले गए हैं।"

"यह कैसे पता चले। उससे किसी ने पूछा तो है नहीं?"

"यह सब बेकार की बातें तुम सोचना छोड़ दो, इससे कोई लाभ नहीं है। अच्छा हो यदि तुम सो जाओ। मिनी ने उसकी आँखों पर अपना हाथ रख दिया और अलका बातें करने से थक जाने के कारण शिथिल भाव से करवट बदल कर पड़ी रही। मिनी ने कुछ देर तक उसके सो जाने की प्रतीक्षा की, अन्त में जब उसके निःश्वास प्रसुप्त व्यक्ति के समान भारी चलने लगे, वह चुपके से उठ गई और शेष दिवस बिताने के विचार से अपनी एक अधूरी कहानी पूरी करने लगी। लगभग दो घंटे के

बाद एक धीमी फुसफुसाहट से वह चौंक उठी। उसने सुना, अलका कुछ बड़बड़ा रही है। निःशब्द पगों से वह उसके पास गई और सुनने लगी।

" वह शिशु।" अलका स्वयं से बातें कर रही थी—"कालेज जानेवाली राह पर पड़ा रो रहा था। उसे पुलिस उठा ले गई। पता नहीं कि उसका क्या हुआ ?"

"कौन-सा शिशु ?" मिनी ने उसपर झुककर जिज्ञासा की।

"मैंने क्या तुमको नहीं बताया था ? भादों की काली अमावस्या के बाद प्रातःकाल जब मैं वायु-सेवन के लिए निकली थी तब मैंने उसको देखा था। वह एकदम गुलाबी रंग का बहुत सुन्दर नन्हा सा शिशु था। वह रो रहा था, पर ज्यों ही मेरी दृष्टि उस पर पड़ी, मैं डरकर भाग खड़ी हुई कि कहीं कोई मुझे उसके पास खड़ी न देख ले !" हल्के स्वर में अलका ने कहा और अपनी पलकें खोल दीं, जिनमें नींद का कहीं पता नहीं था। चकित होकर मिनी ने कहा—"मुझे उसकी याद है। पर तुम आराम से सोती क्यों नहीं ?"

"मिनी, सच कहो ! क्या वह उन कुत्तों के पिल्लों से कम दयनीय था, जिनको सड़क पर से मैं उठा लाती रही हूँ और पाल-पोस कर परिचितों को बाँट देती रही हूँ, क्योंकि बाबूजी को कुत्तों से आन्तरिक घृणा है !" दुखित होकर अलका ने पूछा।

"मिनी अवाक् रह गई, उसे ऐसे प्रश्न की आशा नहीं थी। किन्तु तुरन्त संभलकर उसने कहा—"लेकिन उसे लेकर तुम क्या करतीं ?"

हाँ, वह मेरे किसी काम नहीं आ सकता था। किन्तु क्या उसका अपना हित इस बात में न था कि वह उस कर्कश पुलिस वाले के हाथ न पड़कर, मेरे हाथ पड़ता। उसका पालन मेरे द्वारा हो जाता !"

"लेकिन एक कुत्ते और बालक में मौलिक अन्तर है। बालक

को दूध और बिस्कुट के साथ-साथ, अच्छी शिक्षा-दीक्षा भी चाहिये। उसमें काफी रुपया खर्च होता है, उतना रुपया कहाँ से आता ?"

"तुम्हारा कहना सच है। एक लावारिस कुत्ते को मोटा-ताजा देखकर दूसरे लोग उसको ले लेने के लिए कैसा ललचाते हैं, एक लावारिस बालक को देखकर वे वैसा कभी नहीं ललचायेंगे। उदास होकर अलका ने कहा और अस्फुटस्वर में बोली—"दानवता सदैव अपनी पूजा करा लेती है, किन्तु ईश्वरत्व हृदय के एक कोने में दबा सिसका करे, ऐसा क्यों ?"

"तुम बराबर उल्टी-सीधी बातें सोच कर अपना मस्तिष्क खराब करती रहती हो। तुम्हें अब सोने की कोशिस करनी चाहिए।"

"मैं आखिर कहाँ तक सोया करूँ! मेरे मन में आ रहा है कि न्याय के दंभ में, द्वैष एवं घृणा की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई भावनाएं प्रकट करने में कोई हिचकिचाहट क्यों नहीं होती, किन्तु उदार स्नेह और करुणा को प्रकट करने के समय मन पीछे क्यों हट जाता है ? किसी के प्रति दया, करुणा और स्नेह जब हृदय में जागे, तब उसके उगते अंकुरों को निर्दयता-पूर्वक कुचल देना ही जीवन की सबसे बड़ी त्रुटि है। जब मनुष्य 'ईश्वरत्व' से घृणा करने लगता है, तब वह अपनी आत्मा की सबसे बड़ी माँग को पूरी करने से मुकर कर राग-घृणादि के उत्ताप से झुलसा देने का प्रयत्न करता है। क्या तुम नहीं समझतीं कि तभी समाज और व्यक्ति के बीच की श्रंखला की वह कड़ी खो जाती है, जो उन दोनों को एक कर देती है। वे नदी के दो कगारों के समान पृथक् हो जाते हैं और व्यर्थ अहंकारमय आक्रोश से, अपने अन्तर में ही फूलते और मिटते रहते हैं....।" रुक रुककर अलका ने अपना कथन पूरा किया।

मिनी को अकस्मात् जैसे एक मार्ग मिल गया, वह बोल उठी—"यह एक गलत प्रणाली है और उसमें परिवर्तन लाने के लिए साहसी युवक-युवतियों की बड़ी आवश्यकता है, जो किसी बात से न घबराएँ। वे मानव की पतनोन्मुख समाज-व्यवस्था से जम कर मोर्चा ले सकें और प्रकृति की निम्नमुखी जड़ प्रवृत्तियों को पछाड़ दें।"

अलका के नेत्र चमक उठे, वह बोली—"हाँ, वह एक नवीन प्रकार का जीवन होगा।" और चुप हो गई। उसे नींद आते देर न लगी और वह शीघ्र ही गंभीर नींद में मग्न हो गई।

(४)

दूसरे दिन सोकर उठने पर अलका अपेक्षाकृत शांत चित्त देख पड़ी। उसने निर्विवाद भाव से दवा पी ली और दूध भी पिया। इसके बाद उसने कहा—"राम, कृष्ण और बुद्ध बहुत धैर्यवान् पुरुष थे। वे अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रतीक्षा कर सकते थे और सारे संघर्षों पर विजय प्राप्त करने का साहस रखते थे। लेकिन प्रत्येक मनुष्य इतना साहसी नहीं हो सकता।"

दिन भर वह सोती रही। सन्ध्या समय उसकी हालत सुधर चली और डाक्टर ने उसकी बदली मनःस्थिति पाकर उसके शीघ्र स्वस्थ हो जाने का विश्वास मिनी को दिलाया। तीसरे दिन सन्ध्या-समय सोकर उठने पर अलका ने कहा—"जीते रहने के लिए संसार में बहुत आकर्षण है।"

उसने खिड़की के बाहर देखने की इच्छा प्रकट की। मिनी ने उसे तकिये के सहारे बैठाने में अधिक आपत्ति नहीं की और बाहर सड़क के किनारे एक अति दुर्बल काय बूढ़ी औरत की ओर उसका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—"उसे तो देखो।

चल नहीं पाती, तो भी उपलों का इतना बोझा लेकर इधर आ रही है।" विस्मित होकर अलका ने पूछा—"क्यों ?"

इतने में अस्पताल से एक कम्पाउन्डर बाहर निकला और उसने बुढ़िया को तुरन्त पैसे देकर उससे उपलों की गठरी ले ली। बुढ़िया का चेहरा चमक उठा। वह पैसे लेकर बाजार की ओर चल दी। मिनी ने कहा—" वह नित्य उपले बेचने इधर आती है। दिन भर गोबर एकत्र करने के लिए यत्र-तत्र भटकती है और फिर उनके उपले बनाती है ? जीवन के लिए उसे कितना परिश्रम करना पड़ता है, फिर भी वह खुश है।"

थके स्वर में अलका ने उत्तर दिया—"मैंने कल रात में एक सपना देखा था, जो मुझे अब तक याद है ! छाया जैसी आकृति-वाले एक मनुष्य ने मुझे एक बहुत सुन्दर सुगन्धित पुष्प देते हुए कहा—"इसे ले लो।" मैंने लेकर देखा कि उसकी श्वेत कोमल पंखुड़ियों पर कुछ अक्षर अंकित हैं। मैंने उन्हें मिलाकर पढ़ लिया। मेरा विचार है कि वह लेख, विश्व का सबसे बड़ा सत्य है।"

"क्या था, वह लेख !" मिनी ने अत्यंत उत्सुक होकर पूछा।

"मुझे लिटा दो, मैं बताती हूँ !" अलका ने कहा। इसके बाद सुचारु रूप से लेटकर शान्त गंभीर स्वर में बोली—"केवल एक शब्द, सद्भावना ! और यह जीवन के लिए बहुत आकर्षक योजना है। क्योंकि संसार में सबसे बड़ी न्यूनता इसी बात की है। मैंने निश्चय किया है कि यदि मैं जीवित रही तो अपना शेष जीवन इसी तत्व के प्रचार में लगाऊँगी।"

"हाँ, हाँ ! अवश्य…… …।" मिनी ने प्रसन्न भाव से उसकी पीठ ठोंकी। दोनों के मन हल्के थे और वे अपने हृदय में नव-स्फूर्ति का अनुभव कर रही थीं।

त्रिवेदी-निकेतन
बटगंज, सीतापुर (उ० प्र०)

रोज की बात

श्री वल्लभ अग्रवाल

(१)

महकू ने करवट बदलते हुए कहा—ओरी ! रधिया, क्या बात है ? मुन्ना बहुत रो रहा है। रधिया झुँझलाकर बोली—"आग लगे नासमिटे को ! आफत कर दी है। दूध उतरा नहीं, मैं क्या करूँ ?"

अजीब माँ है ! दस दिन का बच्चा पुच कराने के बजाय और झुंझलाती है, अरे भाग्य मना। इस उम्र में भगवान् ने खाली गोद भर दी है। फिर दो साँस लेकर बोला—"अच्छा, तू चुमकार कर उसे चुप कर ! मैं रामदीन के यहाँ से अभी बकरी का दूध लिए आता हूँ।"

रधिया धीमे-धीमे थपकियाँ देती हुई बोली—"चल तो दिये, पर पैसे ? सुबह-सुबह महतो उधार शायद ही दें।"

—अरे कुछ हो ! दूध तो लाना ही है। आज तबियत ठीक है। रिक्शा चलाऊँगा; शाम को पैसे आ जायेंगे, और फिर बच्चे का दरद करेगा ही। कुछ मेल-मुरव्वत भी मानता है।

पर उठते-उठते उसे जोर की खाँसी आ गई। छाती में दर्द होने लगा। रधिया बच्चे को चिपकाए-चिपकाए उठती हुई बोली—"क्या बहुत तकलीफ है ? लाओ छाती सहला दूँ।"

—अरे रहने दे ! अब तबियत ठीक है। तू लेटी रह ! सुबह का वक्त है। लौंडे को कहीं सर्दी अर्दी न लग जाय ?

पर रधिया तब भी उठ बैठी ! कोने में ताक पर रक्खी शीशी उठाती हुई बोली—"लो ! दवा की एक खुराक पी लो। जी को कुछ चैन मिल जायगी।" फिर कुछ हिचक कर थोड़ी देर बाद बोली—'तुम्हें मेरी कसम। सच बताना। कहीं डाक्टर ने वह, बीमारी तो नहीं बताई ? तुम्हें इधर खाँसी बहुत आने लगी है।"

—पगलिन हुई है। मामूली सी खाँसी है। डाक्टर ने कहा है, दो-चार दिन में ठीक हो जायगी। मेरी चिन्ता कर, तू बेकार को सूखी जाती है। मैं बिल्कुल ठीक हूँ। मुझे हुआ क्या ?

रधिया पास आ पीठ सहलाती हुई बोली—"चलो ! चलो मुझी से झूठ बोलते हो।" फिर कुछ रुक कर बोली—"सच ! मैं बड़ी अभागिन हूँ। तुम्हें यह दिन मेरे कारण ही देखना पड़ा ! न उस दिन मैं तुमसे शिकायत करती, और न यह दिन देखना पड़ता।"

—बस कर ! बस कर ! चली है अपने को दोस देने। तकदीर का लिखा मिट थोड़े ही जाता है ! और फिर, खैर मना, मैंने उसे जान से नहीं मारा।

जमींदार था तो क्या ? मुझे छेड़ने की उसकी हिम्मत कैसे हुई ?

—बस तुम्हें तो बात-बात में जोस आ जाता है। उस वखत गम खा जाते·········तो ये सब मुसीबतें क्यों आतीं ? खेत का खेत बेदखल हुआ, बैल-बधिये बिके वह अलग।·········· और फिर खुद अपनी तन्दुरुस्ती देखो ···········।

हाँ ! हाँ ! देख लिया ! तू अपना हाल क्यों नहीं देखती ? पहले से आधी भी तो नहीं रह गई। पहिले फूल की तरह खिली रहती थी और अब ········ अब काँटे की तरह मुरझा गई है। फिर एक गहरी साँस लेकर बोला—"मैं तुझे कोई सुख नहीं

दे सका रधिया ? तू तो रानी होने योग्य थी। कहाँ मुझ जैसे गँवार के पल्ले पड़ गई ?"

तब तक बच्चा और भी जोर से चीखने लगा। रधिया उसे हिलाते हुए बोली—"बस करो ! बहुत सुन चुकी ! मैं कोई अप्सरा थी न ? अपनी क्यों नहीं कहते ! तुम्हारा जैसा बाँका जवान गाँव भर में नहीं था।"

महकू का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा ! उसका हाथ पकड़ कर बोला—"सच कहती है रधिया ?"

—सच नहीं, मैं तो झूठ कहती हूँ। बहुत प्यार हो चुका, जरा अपने लाड़ले को दूध तो लाओ, चीख-चीख कर दीवारें कंपाये दे रहा है।

महकू मुन्ना के गाल थप-थपा कर, उसे प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखता हुआ बर्तन लेकर बाहर चला, पर उसकी नजरों के सम्मुख सोलह साल की भोली रधिया का फूल-सा मुलायम और बचपने सा मासूम चेहरा नाच रहा था। अधपुरे घाव में खुजली होने लगी। दबी हुई घटनाएं एक-एक कर सामने आने लगीं।

× × ×

"महकू अभी १८ साल का जवान है। रधिया ब्याह कर नई-नई घर आई है। वह खेत पर काम करता है, तो रधिया उसे रोटियाँ पहुँचाती है। घर में घुसते ही वह कभी पानी पीने के लिए, और कभी चिलम भरने के बहाने उसके पास आ धमकता है। वह शरमाती है, दुतकारती है, पर प्यार पाकर फिर मुस्करा देती है।"

× × ×

दो साल बीत गए। रधिया के चाँद-जैसा बेटा हुआ है। वह दूध पीने से घबराती है, पर वह जबरदस्ती उसे डेढ़-डेढ़ सेर दूध पिलाता है। जब वह मना करती है, तब प्यार से समझाता है।

—'दूध नहीं पियेगी ? तो बच्चे के लिए दूध कहाँ से होगा ?' इसी तरह साल पर साल गुजरते हैं।

उसके दो बच्चे और होते हैं फूल से नाजुक, ओस से मासूम और चाँदनी से सुन्दर।

× × ×

रधिया अब २२ वर्ष की है। उसका जोबन पूरे उभार पर है। वह खेत से चने का साग तोड़कर अभी घर लौटी है। उसका चेहरा तम तमाया हुआ है, साँस जोर से चल रही है। वह पूछता है—"क्या बात रधिया ? हुआ क्या?" वह उसकी छाती में सिर छिपा-छिपा सिसक-सिसक कर जैसे-तैसे कह पाती है............"वह जमींदार....आज फिर छेड़ा.... उसने।"

वह क्रोध में ज्वालामुखी-सा उफनता, जमींदार की हवेली पहुँचता है और गालियाँ सुनाता हुआ उस पर लाठी का वार करता है, किन्तु बीच में ही जमींदार के नौकर पकड़कर बुरी तरह उसकी मरम्मत करते हैं। शाम को ही पुलिस आती है। उसे कत्ल करने के जुर्म में गिरफ्तार किया जाता है। बहुत कोशिशें करने पर चार साल की सजा हो ही जाती है।"

× × ×

सीने में दर्द बढ़ चला। कुछ खाँसी भी आ गई। घाव में और भी टीस बढ़ चली। पिछले धुँधले चित्र स्पस्ट होने लगे।"

"अब महकू २७ साल का है। जेल ने उसे हड्डियों का ढाँचा बना दिया है। एक दिन रधिया उससे मिलने आती है। कुम्हलाई कली सी रोते-रोते कहती है—"माँ चली गई छोड़कर, चेचक में तीनों बच्चे चल बसे। खेत बेदखल हो गये, भैंस फ़रोख्त हो चुकी। अब वह बे सहारा है।" तभी उसे अपने

लंगोटिया यार किसान की याद आती है, जो शहर में रिक्शा चलाता है।

वह कहता है—"रधिया ! तू बेखटके शहर किसना के पास चली जा। वह दगा नहीं करेगा। जिगरी दोस्त है मेरा। और तू तो जानती है उसे। शहर में रहते हुए भी दारू को हाथ नहीं लगाता। और वैसा ही भाभी। लछमी है साक्षात्।

× × ×

२८ साल का महकू जेल से अभी-अभी छूटकर शहर आया है। सहारा है केवल किसना। बड़ी उमंगों से वह रधिया से मिलता है। पर यह पीली सूखी और अधेड़ रधिया गाँव की चहकती, फुदकती, खूबसूरत बुलबुल कहाँ ! उसकी छाया भी तो नहीं। जैसे यह उसका अभिशक्त प्रेत है। वह भी रिक्शा खींचने लगता है। रधिया को आराम देने की वह हरदम कोशिश करता है, पर मुरझाए फूल कभी फिर से खिलते हैं ?

और..................अब..................अब वह ३० साल का है। रिक्शा खींचते-खींचते उसे अब एक साल हो गया ठीक। और अब उसके गरीबी भरे सूने जीवन में एक बार फिर शिशु का रुदन गूँज उठता है। पर आज उसके पास दूध के लिए पैसे तक नहीं।

इतने ही में मिल का भोंपू, दानव की पुकार अट्टहास कर उठ स्वप्न टूट गया, मुर्च्छा दूर हो गई। साँस तेज हो गई। बच्चे का रुदन कानों में गूँज उठा। वह तेजी से डग बढ़ाकर रामदीन के घर की ओर चल पड़ा। न जाने कितनी मिन्नतों और वायदों के बाद दूध दिया रामदीन ने ! वह बड़े उल्लास से दूध लेकर घर चला। तभी बीच में रूपा काकी मिलीं। उसे देखते ही बोली—"क्या दूध लेकर आ रहा है ? पर यह सब चलेगा कितने दिन ! बच्चा इस तरह नहीं जीने का ! दूध पिला रधिया को। दूध से दूध होता है।"

बात उसके मन में बैठ गई। ठीक तो कहती है। सूखी रोटियों से भी कहीं दूध उतरता है ? फिर मन में दूध लाने का दृढ़ संकल्प किए वह तेजी से कोठरी की ओर चल पड़ा।

(२)

कार्तिक का महीना। गुलाबी सी सर्दी थी। महकू की कमीज बुरी तरह फट चली थी ! ठण्डी हवा के झोंके उसके सीने पर तीर से झपटते थे। जब कभी खाँसी भी आ जाती थी। चाहते हुए भी बीड़ी पीने को जेब में हाथ नहीं जाते थे। डाक्टर ने मना जो कर दिया है। वह पैडिल पर पैडिल मारता सवारी की उम्मीद में स्टेशन भागा जा रहा था। अड्डे पर रिक्शा रोककर वह साँस लेने लगा। उसका दम बुरी तरह फूल गया था। तभी दीना बोला .... !

"कुछ तो आराम किया होता, महकू काका ! बुखार कहीं दो दिन में ठीक नहीं होता ? और फिर रकम जोड़ी किस दिन के लिए है। सिनेमा तुम नहीं देखते, दारू को तुम नहीं हाथ लगाते .... फिर इतनी हवस किसकी ?"

तभी अधेड़ किसना पास आकर बोला—"कहो कैसी तबियत है महकू ? भाभी को हुआ कुछ आराम ? फिर दीना की ओर घूमकर बोला—"अभी बहुत फब्ती कसता है ! चार साल में न कन्धा टेक दे, तो मेरा नाम किसना नहीं। बहुत जवान देखे हैं मैंने ! गंज में जा-जाकर बीमारी ले आया है—और यहां ऐंठ मारता है मरदानगी की ! जेल की सड़ी रोटी खाता, मालूम तब होता।

दीना एक और जवान रिक्शे वाले की ओर घूमकर बोला—"ले देख हमीदा ! अब हिमायत लेकर लड़ने आया है ! अपनी भाभी को साल भर घर न रक्खे रहा, . इसी से उसके लिए इतना दरद भी है।" इतना सुनते ही सब रिक्शेवाले फूहड़ता से हँस

पड़े। किसना चिल्लाकर बोला—"अरे बदमाशो! देखता हूँ यह जवानी रहती कितने दिन है ?"

हमीदा हँसते हुए बोला—"जब तक है तब तक तो मौज उड़ा लें। आगे की कौन देख आया है ?" किसना ने उधर से मुँह फेर लिया। फिर महकू को देख धीमे से बोला—"तुममें हिम्मत तो गजब की है महकू! पर जरा तन्दुरुस्ती भी तो देखी जाती है। शरीर ही न रहा, तो काम किससे होगा ? कहीं कुछ करज ही ले लो।"

—"कहां मिलता है किसना ? काबुली भी तो मना करता है। उसे मेरी खाँसी की वजह से वसूल होने का भरोसा नहीं! तेरे रुपये अलग देने हैं।"

—"रहने दे, मेरे रुपये की फिकर मत कर! लौंडे की कैसी तबियत है ? क्या करूँ ? मुझे फ़ुरसत ही नहीं मिलती; नहीं कभी देख आता। भाभी को महीनों से नहीं देख पाया।"

महकू की बात सुन दीना खुद अपनी बात पर शरमाया। सहानुभूति से बोला—"माफ करो काका, मैं नहीं जानता था कि तुम ऐसी मुसीबत में फँसे हो। क्या डाक्टर ने तपेदिक बताई है ?"

महकू हँसते हुए बोला—"अभी नहीं बताई तो चार दिन बाद बताएगा। कहता हूँ पूरा आराम करो। आबहवा बदल दो और खाओ फल और दूध।" फिर खुद ही अपने कथन पर मुस्करा कर बोला—"अच्छा मजाक है न! खाने को भर पेट रोटी नहीं, दूध और फल कहां से आयें ? एक दिन रिक्शा चलाने से रोटी नहीं, मिलती ...... फिर आराम कहां।" किसना एक सांस भर कर बोला...... !

'क्या करूँ महकू! आजकल हाथ खुद बहुत तंगी में है।' फिर कुछ रुक कर बोला—'इस जमाने में गरीब आदमी की तो

मुश्किल है ! एक तो वैसे ही चीज तेज, फिर उस पर मालिकों का जुलम ।'

शायद कुछ और कहता, पर आगे का स्वर गाड़ी आने के शोर में खो गया । सभी रिक्शेवाले घंटी टनटनाते हुए बरसाती की ओर दौड़ पड़े । वातावरण गतिशील हो उठा । 'कहाँ चलिएगा बाबू जी ? आइये मेरे रिक्शे पर आइये । तूफान सा चलता है । क्या नबाबगंज चलियेगा ? आपसे क्या ठहरावें ? जो मन आए दे दीजिएगा, अच्छा दो ही सही । पर बारह आने बहुत कम हैं हुजूर! सोचिए तो दूर कितना है ! आइये मेरे रिक्शे पर, आइये बाबूजी ! डेढ़ रुपया ।

अच्छा आइये, बीस आने दीजिएगा ।

'बाबू जी एक रुपया ।'

'अच्छा ? ऐ कुली, रक्खो सामान इस रिक्शे पर ।' और महकू घण्टी टनटनाता हुआ आगे बढ़ा ।

हमीदा बड़बड़ाया—'महकू ने तो रेट बिगाड़ दिया है ।' पर सुनने की किसी को फुरसत नहीं थी । सभी सवारी की जुगत में इधर-उधर मुँह मार रहे थे । महकू तेजी से पैडल मारता रिक्शे को हवा की तरह उड़ाये लिए जा रहा था । एक रुपया मिलने की आशा से, जैसे उसके समस्त शरीर का साहस जाग उठा । वह सोच रहा था कि एक रुपया मिलने पर निकलेगा मालिक का किराया ! फिर दिन भर वह जो कुछ कमाएगा—वह उसका होगा ! ····सिर्फ उसका······ । फिर वह चौक से मलाई और केवड़े पड़े दूध का, रधिया के लिए आधा सेर का सिकोरा खरीदेगा । ···· ···· हलुवे के लिए आटा और गुड़ भी लेगा । कितनी खुश होगी रधिया ?

रिक्शे से सरसराती एक कार सर से निकल गई । बाबू जी

गर्जे उठे—"जरा देखकर ! क्या टक्कर लगाएगा ? अन्धा कहीं का।"

पर महकू बिना कुछ जवाब दिये चुपचाप पैडिल मारता रहा। अभी उतराई है, जितनी तेजी से ले चला, चढ़ाई पर उतनी ही आसानी होगी। और गालियाँ तथा डाँट सुनने की तो उसे अब आदत पड़ गई है। पहिले जरूर कुछ तकलीफ होती थी। जब से 'व्यावहारिकता' सीखी है तब से ज्यादा सवारी बैठालने पर सिपाही भी नहीं डाँटता उसे। उनकी ड्यूटी खत्म होने पर वह चुपचाप उन्हें मुफ्त बैठाल लेता है।'

पीछे बाबू साहब का सूटकेस और जीन का होलडोल रक्खा था। एक फलों की टोकरी भी थी। वह सोचने लगा .... यह बाबू भी तो ठीक उसकी ही तरह इन्सान हैं। यह तो अपने कपड़ों को पचासों रुपयों के सूटकेस में सजा कर रखते हैं। और उसे साबित कपड़ा तक नसीब नहीं। आखिर ऐसा क्यों है ? क्या वह पढ़े-लिखे हैं ? सिर्फ इसीलिए ? पर आजकल तो सुनते हैं कि .... पढ़े-लिखे भी बेकार घूम रहे हैं। फिर आखिर ऐसा है क्यों ?

चढ़ाई आने पर वह रिक्शे से उतरकर उसे हाथों से खींचने लगा। विचारों की लड़ियाँ अपने आप बिखर गईं !

बाबूजी कुनमुनाए—बहुत मरी चाल से चला रहे हो जी ! जरा बढ़कर आगेवाले रिक्शे के बराबर में तो ले आओ। एक दुअन्नी और।

"उसकी आँखें चमक उठीं।"

इसी बीच में.........

उसे एक दुअन्नी और की आवाज सुनाई दी। आगेवाले रिक्शे पर दो लड़कियाँ बैठी हुई थीं। उसने भरपूर ताकत से पैडल चलाए।

रिक्शा बगल में आ गया। बाबू जी ने एक भद्दा सा रसिया अलापा और सीटी बजाई। मुँह से वह फिर मस्ती से रिक्शा चलाने लगा। मन एक साथ उचट गया। चवन्नी कंकड़ मालूम हुई। उसे याद आया, एक वक्त रधिया से यह सुन लेने पर कि जमींदार ने उससे छेड़खानी की है, वह उसके खून का प्यासा हो गया था। आज क्या उसका उतना पतन हो गया है कि एक चवन्नी के लिए वह इन बाबू जी को भद्दा रसिया गाने और सीटी बजाने का मौका दे सके ?

उसे फिर खाँसी आई। इस बार साथ में एक कफ का लोथड़ा भी गिरा..............जिसमें जरा सा खून भी था! उसकी सांस बुरी तरह फूलने लगी ! नबाबगंज आ चुका था! उसे सामान लाद बंगले में पहुँचाने का हुक्म हुआ? ताक़त जबाब दे रही थी, पर रुपये की सुनहरी आशा ने उसके हाथों में यंत्र की तरह सन्दूक थमा दिया और बगल में फलों की टोकरी। वह 'लान' पार करता हुआ, बरसाती में आकर बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था, तभी उसे खाँसी का फिर एक जोरदार ठसा लगा। फलों की टोकरी हाथ से छूट गई। जैसे-तैसे वह सन्दूक और होल्डाल साध सका? तभी बाबू जी एक साँस में पचास गालियाँ सुनाते हुए गरजे.......।

"सुअर..नालायक कहीं का। सब फल बरबाद कर दिए। निकल जा यहाँ से, एक पैसा नहीं मिलने का।" महकू ने फल बटोर जल्दी-जल्दी टोकरी में भर दिए और खुशामद करते गिड़-गिड़ाते हुए बोला......।

"माफ कीजिए ! गलती हुई बाबू जी ! मैं पैर पड़ता हूँ आपके।"

पर आध घण्टा सिर मारने पर जैसे-तैसे उसे सिर्फ अठन्नी मिल सकी। आठ आने एक दर्जन केले पिचक जाने का जुर्माना

भुगताना पड़ा। इनाम की चवन्नी तो मांगने की उसकी हिम्मत नहीं हुई। मन में गालियाँ सुनाता, अपनी बेबसी पर खीझता, निराश, शिथिल, हाँफता-रोता..वह फिर बाजार की ओर बढ़ा। उसका मन चीख रहा था—

"भगवान् ? तू न्याय क्यों नहीं करता ? दुनिया में इतना अन्याय क्यों है ? वह जी तोड़कर मेहनत करता है, फिर भी उसे पेट भर अन्न क्यों नहीं मिलता ?"

'उसके अन्दर से एक बलशाली-विद्रोही आवाज चीख उठी ...!"

"नहीं ? नहीं ! दुनिया में भगवान् कहीं नहीं ! यह उसे बेवकूफ बनाने का नुस्खा है। हाँ ! अगर वह है, तो सिर्फ अमीरों का, ग़रीबों का हरगिज नहीं। अगर भगवान् दीनबन्धु और दयालु होता; तो क्या उसे जेल हो जाती ? क्या उसे रिक्शा चलाना होता ? क्या उसकी रधिया का आज यह हाल होता ?"

उसकी रूढ़िमत दबी-सी वही कमजोर आवाज बहुत धीमे से बोली—"यह तेरे कर्मों का फल है। यह तेरी परीक्षा है। तू सन्तोष कर....अगले जन्म में ·····..। पर संतप्त आत्मा बीच में ही खीझ उठी......।

— नहीं ! नहीं ! अगला-पिछला जनम कुछ नहीं ! जो कुछ है, सब इसी दुनिया में है। जब उसकी रधिया नहीं रहेगी ? उसका प्यारा एक मात्र बच्चा नहीं रहेगा; फिर अगले जनम से फायदा क्या ?

तभी किसी मोटे सेठ ने उसे आवाज दी। वह सेठ-सेठानी दोनों को लेकर फिर स्टेशन चल पड़ा। अतः संघर्ष धीमा पड़ता गया ! रेजगारियों की चिन्ता फिर धीरे-धीरे उमड़ने लगी।.. आठ आना....उसके पास अभी बारह आने है। आठ आने मालिक

के लिए और....फिर जो कुछ कमा सके वह उसका, अच्छा मजाक है। मेहनत करे वह और उसके मालिक मजे से गद्दी पर धरे हुए बीस आने झाड़ दें! क्या यह अन्याय नहीं है?

(३)

दिन भर जी तोड़ उसने रिक्शा चलाया। शाम को मालिक को बीस आने देकर उसके पास पौने दो रुपए और बचे। वह खुश-खुश पहिले आटा और गुड़ लेने परचूनी की दूकान की ओर बढ़ा।

लाला के हाथ में एक रुपया रखकर बोला—"सेर भर आटा दो लाला और दो आने का गुड़।"

लाला रुपया गोलक में डाल दुष्टता से मुस्कराता हुआ बोला—

"यह रुपिया तो तुम्हारे पिछले हिसाब में जमा हुआ महकू। अब लाओ, क्या सौदा चाहिए तुम्हें।"

महकू गिड़-गिड़ाकर बोला—"आज माफ करो लाला! भगवान् कसम! अब एक पैसा नही गाँठ में। क्या भूखे ही मारोगे आज?"

"नहीं! हम कुछ नहीं जानते। तुमने दो रुपया उधार लेकर चार महीने से सूरत नहीं दिखाई। यह रुपया व्याज में जमा हुआ। बाकी रुपये बकाया रहे।·······वह भी दे देना····,पर जल्दी ही।"

महकू सुन्न हो गया। कुछ रुककर बोला—"कुछ तो धरम को डरो लाला। तुम तमाम बार मेरे रिक्शे में बैठे।··क्या वह रुपये चुके ही नहीं और फिर व्याज की भी तो कुछ हद होती है।"

लाला कमीनियत से मूँछे ऐंठता हुआ बोला—"दो कौड़ी का आदमी। मुझे धरम सिखाने चला है। दो घंटे रोज तो माला

जपता हूँ, पर जो बही खाते में लिखा है, उसे झूठ थोड़े ही बना दूँ। आखिर मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं।"

महरू समझ गया। उसका तर्क करना बेकार है। जो एक बार छकौड़ीलाल के चंगुल में फँसा, उसका सहज निस्तारा नहीं। उसे दुख हुआ,...क्रोध हुआ—खुद अपने आप ही पर।...वह यहाँ आया ही क्यों ? परचूनी की क्या सिर्फ यही दूकान थी उसके लिए ? पर रुपया उसके हाथ से निकल चुका था, जो लाख कोशिश करने पर भी उसे अब हरगिज नहीं मिलने का।

आगे बढ़ दूसरी दूकान से उसने चार आने का आटा और दो आने का गुड़ तुलाया। नुक्कड़वाले हलवाई से मलाई और खुशबूदार आधा सेर दूध बनवाया। फिर बड़ी उमंगों से वह घर की ओर चला। आशा और उमंगों की तेज हवा से......उत्पीड़न, निराशा और उदासी के बादल छट चले। पीली आँखों में चमक आ गई और चेहरे पर स्निग्धता। कदम कुछ और तेज बढ़ चले और साथ ही साथ कल्पना के चंचल घोड़ों ने झटका खाकर एक छलाँग लगाई।

वह सोचने लगा। जैसे ही वह घर पहुँचेगा, दरवाजे पर उसके इन्तजार में बैठी रधिया एक साथ खिल उठेगी। फिर वह मुन्ने को प्यार कर जब तक उसे खिलाएगा, रधिया दूध पीकर दो रोटियाँ सेंक देगी। कहेगी...."कुछ अपनी ओर भी तो देखो। तुम भी तो सूखते जाते हो। पहिले तुम पिओ दूध।"

फिर वह कहेगा—"पी जा। चुपचाप ! बहुत बक-बक नहीं करते। इतनी बड़ी हो गई, यह नहीं जानती कि खाँसी में दूध नुकसान करता है। और फिर तुम्हें तो मुन्ने के लिए पीना है।" कौन अपने लिए ? वह जब भी नहीं पिएगी तो उसका मन रखने को वह भी दो घूँट पी लेगा।......

एक जोरदार धक्का लगा उसे। हाथ से सकोरा छूट गया

उसके, और बगल से आटे की पोटली। पूरी दुनिया उसे तेजी से घूमती दिखाई दी। रधिया का अस्पष्ट चेहरा उसके सामने आया। इंतजार में व्याकुल और भूख से रुदन करता मुन्ना। पर दूसरे ही क्षण, बेहोशी के घने बादलों ने, उसे अपने पहलू में समेट लिया।

एक झटके से कार रुकी। खून देख, एकदम पीछे हटी, और फिर उसके खूनी पहिये, उस अर्द्ध कोलाहलमय सड़क पर तेजी से दौड़ पड़े।

चारों ओर से आवाजें आई—"पकड़ो, पकड़ो, नंबर।"

अनेक करुण-कण्ठ चीख उठे—"राम! राम! कुचल दिया बेचारे को। हाय-हाय! इतना खून?"

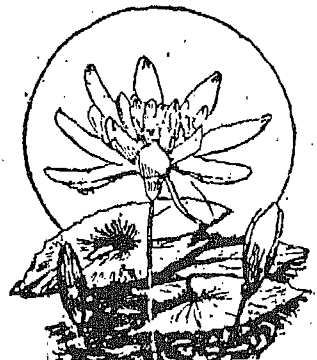
एक नवजवान वातावरण गुँजाता हुआ बड़े जोश से बोला—"अंधे होकर चलाते हैं कारवाले, और वह भी मनमानी रफ्तार से। इन सबको तो गोली से उड़ा दिया जाय, और भागा कैसे है जान लेकर? यह भी न हुआ कम्बख्त से कि अस्पताल पहुँचा देता। अरे! उस कार का नंबर देखा किसी ने?"

सब एक दूसरे का हुक्के सा मुँह ताकने लगे। तब तक वह बेहोश महकू की ओर झुका। उसके दोनों पैर कुचल गये थे और सिर फूट गया था। सकोरे का दूध खून से रँग चुका था। उसने धीमे से महकू को उठाकर रिक्शे में रक्खा। तभी पी-पी करती एक दूसरी कार आकर रुकी। भीड़ देख ड्राइवर नीचे उतरा। पूँछा—"क्या हुआ भई?"

अरे कोई गरीब मोटर से कुचल गया। ड्राइवर ने लापरवाही से सिगरेट फूँकते हुये सेठ जी को रिपोर्ट दी। सेठ जी के माथे

पर दो क्षण को हल्की सी शिकन बनी। पर शीघ्र ही राम-नामी दुपट्टे के छोर से आँखें पोंछते हुये, और घड़ी की ओर ताकते हुए बोले—"राम! राम! बड़ा बुरा हुआ। आठ हो रहे हैं। मंसाराम का फोन आता होगा। रुई का भाव तेजी से बढ़ रहा है, भीड़ हटने की नहीं। लालाराम! तुम कार 'बैक' कर दूसरे रास्ते से ले चलो।"

फिर एक लम्बी साँस भरते हुये बड़बड़ाये—रोज की बात है यह तो! रोज़ कुचलते हैं लोग। भगवान् की मर्जी। मौत आई कारवाले का क्या दोष? हरे! हरे!



क्लब--घर

(सुश्री कीर्ति चौधरी)

सीलोन रेडियो में एक उदास नगमा बजने लगा, तो मिस अन्सारी ने रैकेट एक ओर फेंक, बेचैनी से गरदन झटके साँस भरी, और पास पड़ी कुर्सी पर टिक गई। दूसरी ओर बाब्ड हेयर हवा में बिखेरती हुई, हाथ में रैकेट घुमाती मिस कुरेशी ज़ोर से चीखीं 'निल गेम ! आइए मिसेज़ मेहरा, आज आप भी मैदान में !'

'नहीं भाई, तुम्हीं लोग खेलो, आज तो तबियत नहीं। मंगलानी कहाँ रह गई ? तुम्हें तो वही डिफ़ीट देती हैं।'

'अरे ! मिसेज मंगलानी ! एक दिन कहीं जीत गई, मेरा मूड न ठीक था। बस आप ले उड़ीं। जाइए, आप लोगों को तो क्लब में भी बातों से नहीं छुट्टी। हम लोग जा रहे हैं बिलियर्ड खेलने।'

उनके जाते ही इस गुट की बातें फिर शुरू हो गई। मिसेज मेहरा हँसी जैसी पानी में मछलियाँ तैर गई हों—'देखती रहिए मिसेज साही ! अरे, हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और। यहाँ तो बड़ी--बड़ी डींग हाँका करती थीं जैसे संसार की सबसे बड़ी सुधारक हों !'

'हां भाई, लेकिन यह चाहिए नहीं। मुशीबत में पड़े की मदद करना तो मामूली एटीकेट है। पढ़ लिखकर हम लोग यह भी न समझ सके तो क्या रहा ! फिर ऊँचे और नीचे लोगों में

फरक ही क्या रहा।' मिसेज़ साही ने मेहरा की बातों में योग देते हुए कहा।

मिसेज सब्बरवाल जो अभी तक अपना जूड़ा संभालने में लगी थीं। रेशमी धोती का पल्लू कंधे से गिराते हुए बोलीं—'आपने भी पढ़ने-लिखने की बात चलाई। अरे यह तो खान्दानी बातें हैं। कहा नहीं गया है—'मोरी की ईंट चौबारे जा चढ़ी।' तो क्या हुआ। खान्दान तो दूर से बोलता है। भई, कोई न जानता हो तो कहे! मुझसे क्या छिपा है?' वह बड़े अर्थपूर्ण ढंग से मुस्कराई।

मेज के चारों ओर बैठी संभ्रांत महिलाओं के चेहरों पर उत्सुकता फैल गई। मिसेज सब्बरवाल कुछ रहस्योद्घाटन करने जा रही थीं कि फाटक पर एक कार जाकर रुकी। कार से ही मिसेज मंगलानी ने आवाज लगाई—'जो हो! आज तो क्लब में सब चाँद तारे इकट्ठे हैं। कोई खास बात है?'

'हम लोग कभी खास बात भी करते हैं? आइए, आज देर कैसे?' मिसेज मेहरा ने उत्तर दिया।

'अरे देर क्या! यह घर-गृहस्थी भी एक बवाल है। बेबी की तबियत सुबह से खराब है। पर तुम तो जानती हो कि बिना क्लब आए मुझे एक दिन भी चैन नहीं पड़ता। इसी झंझट में देर हो गई। ऐ आया बेबी को लान में टहलाती रहो—' मिसेज़ मंगलानी बेबी को आया के हाथ में थमा कुर्सी पर आ डटीं।

मिसेज़ रोड़ा ने टूटा तार जोड़ा—"देखा आपने?'

"क्या?"

'अरे वही मिसेज़ सरोला....जनजीवन अखबार में!'

'नहीं तो, क्या हुआ?' मिसेज़ मंगलानी की आंखें विस्मय से फैल कर दुगनी हो गईं।

'वाह! ऐसी ख़बर ली है कि याद रखेंगी जन्म भर।'

'भाई, पूरी बात तो बतलाओ। तुम तो पहेलियाँ सी बुझा रही हो।' मिसेज़ मंगलानी अधीर होकर बोलीं।

महफिल में हीरो पार्ट अदा करती हुई मिसेज सब्बरवाल अपने खूबसूरत पर्स से खुशबूदार रूमाल निकालकर उंगली में लपेटती बोलीं—'पूरा मजा तो जब अखबार पढ़ोगी तभी आएगा। यों हुआ कि कल रात सरोला के घर दो स्वयंसेवक आए। बाढ़ का हाल तो बुरा है ही। कल रात तो वह बद-बद के पानी बरसा है कि मेरी जान में कई पिछली बरसातों में न बरसा होगा। कुछ सहायता चाहते थे, पर मिसेज़ सरोला ने अन्दर घुसने भी न दिया। फाटक से ही बाहर किया। कहते हैं, बुरा बर्त्ताव किया। अब भाई वाकया चाहे जो हो, पर अखबार वालों ने तो बिलकुल नहीं छोड़ा। साफ-साफ गाली दी है।'

'सच!' 'मंगलानी' ने अन्दर के उमड़ते हर्षावेग को रोक ऊपर से उत्सुकता दिखाते हुए कहा। सरोला से उनका पुराना वैर था। क्लब के उत्सवों पर अक्सर उन्होंने साज-सज्जा में सरोला से मात खाई थी। मि० सरोला शहर के सबसे बड़े व्यापारी थे।

'हो सकता है, मि० सरोला ने कुछ आपत्ति की हो।' मिसेज चौपड़ा जो किनारे बैठी अकेले ताश के पत्ते से खेल रही थीं, बोलीं।

'वाह तो क्या वो अपने हज्बेंड की ऐसी गुलाम हैं? ना बाबा, आज के जमाने में तो आदमी औरत सब बराबर। मुझे देखो, बेबी की तबियत खराब थी। साहब कहने लगे कि न हो आज तुम क्लब न जाओ। मैंने कहा, यह खूब रही। आप तो सूटबूट पहिने तैयार खड़े हैं। आखिर मैं ही क्यों न जाऊँ? बच्चा कोई अकेले मेरा तो नहीं है।' मिसेज़ मंगलानी ने अपने

जड़ाऊ कंगनों से खेलते हुए कहा, जिन्हें आज वे केवल सरोला को मात देने के लिए पहन कर आई थीं।

'अजी सौ बातों की एक बात ! वही जो मैंने पहिले कही। असल में प्यादे से फ़रजी होने से चाल टेढ़ी ही हो जाती है। मिसेज़ सरोला की सात पुश्त को मैं जानती हूँ। बड़े व्यापारी को ब्याह गई तो क्या हुआ ! 'सब्बरवाल ने अपने रेशमी रूमाल को फिर पर्स में रख लिया।

असल में मिसेज सरोला से क्लब की सब सदस्याएँ मन ही मन द्वेष रखती थीं। उनमें अधिकांश बड़े-बड़े अफ़सरों की पत्नियाँ थीं। सब्बरवाल के शब्दों में कुछ व्यंजना छिपी समझ कर सबने उनकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।

सब्बरवाल आगे बढ़ीं—'अरे और क्या ! बाप ने तो जन्म भर अस्सी रुपए की क्लर्की की। हमारे शहर के तो ये लोग बाशिन्दे हैं। हमारे फादर का ट्रांसफर हो गया। हम लोग लखनऊ आ गए। इस बीच पता नहीं, क्या हुआ। इतने दिन बाद दिखीं तो मि० सरोला की बीबी बन कर। मैंने तो पहिली ही मुलाकात में पूछा था कि बीबी ये चिड़ियाँ कहाँ फाँसी।'

'अच्छा ये राज है, मैंने आज ही जाना। मैं तो हैरान थी कि यह हूर की बगल में लंगूर कैसे ? मिसेज़ चोपड़ा ताश के पत्तों का महल बिगाड़ती हुई बोलीं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों के पतले काजल की धार और नुकीली हो आई।

घटना से हट कर बात व्यक्ति पर आ पहुँची, तो सबके मुँह खुल पड़े। बड़े वाद-विवाद के बाद निश्चित हुआ कि मिसेज सरोला एकदम फूहड़, संकीर्ण हृदय और अशिष्ट हैं। मि० सरोला कहने को शहर के सबसे बड़े व्यापारी हैं, पर दमड़ी दाँत से पकड़ते हैं। सरोला के चरित्र की चीरफाड़ जब समाप्त हो चुकी तो मिसेज मेहरा ने आवाज लगाई—'मिस अंसारी ! आप

लोगों का खेल खतम हुआ या नहीं ? यहाँ तो चाय भी आ गई।'

बैरा के चाय लाते ही मिस अन्सारी और मिस कुरेशी खेल छोड़ टेबिल पर आ पहुँचीं।

शाही टोस्ट का टुकड़ा मुँह में रखते हुए मिस कुरेशी ने कहा—'चलती हैं मिसेज मेहरा बाढ़ का सीन देखने ?'

अरे हाँ, सुनते हैं ग़ज़ब की बाढ़ आई है। मिसेज मंगलानी ने चाय का सिप लेते हुए कहा।

'चलो जी, फ्लड सफरर्स को कुछ कपड़ा आदि ही बाँट आया जाय। मिसेज सब्बरवाल दयार्द्र होकर बोलीं।

'बहुत खूब। तो अगले संडे को तय रहा। कपड़े वगैरह और कुछ खाने की चीजें भी साथ में लेते चलेंगे। अच्छी खासी पिकनिक भी हो जायगी। क्यों मिसेज़ साही ?'अरोड़ा ने मुस्कराते हुए पूछा।

मिसेज़ मेहरा क्लब की सेक्रेटरी थीं। बोलीं—'और क्लब की ओर से सोशल वर्क भी हो जायगा। अखबार में दे देंगे।'

'ओके।' मंगालानी ने इस बार उँगलियाँ इस तरह चटखाइ कि उनके नए कंगनों पर सबकी नजर दौड़ गई।

कंगन बड़े खूबसूरत हैं। कब मँगाए ?' अन्सारी ने चाव से उनकी ओर देखते हुए पूछा।

चेष्टापूर्वक मंगलानी ने लापरवाही दिखलाई। 'मंगलानी साहब गये थे बाढ़ का दौरा करने। लखनऊ उतरे तो पसन्द कर लाये।

रेडिओ बराबर बज रहा था। चाय के प्याले खनक रहे थे। कंगन और चूड़ियों की खनकन और मीठी मस्ती भरी हँसी बिखर रही थी कि सहसा क्लब के चपरासी ने आकर झुक कर लंबा सलाम करते हुए मिसेज़ मेहरा को सम्बोधित कर कहा—

'हुजूर फाटक पर एक औरत रो रही है। उसका घर-बार सब बाढ़ में बह गया है। एक बच्चा गोद में लिये है, जिसका दम टूट रहा है। कहती है खाने को कुछ दिला दो। तीन रोज से अन्न का एक दाना नहीं नसीब हुआ। सरकार बहुत हटाया, पर टलती ही नहीं। मुझे क्या हुक्म है?'

मिस कुरेशी कोई लतीफ़ा सुना रही थीं। बेसाख़्ता हँसी फूटी पड़ रही थी। मंगलानी की आँखों में हँसते-हँसते आँसू आ चले थे। चपरासी की बात ने रंग में भंग डाल दिया। मधुर मस्ती भरे वातावरण में जैसे काठ मार गया। मिसेज़ मेहरा के माथे पर बल पड़ गए। चपरासी को आग्नेय दृष्टि से देखते हुए वे झुँझला पड़ीं—"फुलिश! देखते नहीं चाय हो रही है?"

"यह भी क्या सलीका है, क्लब में हम लोग इन्ज्वाय करने आते हैं या कम्बख़्तों को रोटी देने?" मिसेज़ चोपड़ा ने अपने कानों के झुमकों को एक विशेष झोंके से हिला दिया।

और नहीं तो क्या!" मिसेज़ मंगलानी ने त्योरियाँ चढ़ाकर चपरासी की लानत-मलानत करते हुये कहा—"बाल सफेद हो गए, पर तूने यह नहीं सीखा कि यह क्लब है, यहाँ भिखमंगों की फरियादें नहीं सुनी जातीं।"

"जा उसे यतीमखाने में भेज दे।" मिस अन्सारी ने हमदर्दी दिखाई।

अपने प्याले में केटली से चाय उंडेलते हुए मिसेज़ साही ने विषयान्तर किया—"दुनिया में बेईमानी इतनी बढ़ गई है सब्बरवाल, कि कुछ समझ में नहीं आता, क्या हो रहा है। अब यह बाढ़ आई है न! देखना सैकड़ों लोगों को रोजी कमाने का जरिया मिल जाएगा।"

"बिलकुल ठीक कहा आपने। अरे प्रोफेशन बना लिया होगा लोगों ने कुछेक महीनों से।"—मेहरा ने पुष्टि की।

सामने की घड़ी ने चिड़ियों की सी आवाज में चहक कर नौ बजने की सूचना दी।

मेज़ से उठती हुई मेहरा ने फिर याद दिलाई—"तो फिर तय रहा न, फ्लड सीन देखने की बात।"

"श्योर ! श्योर !" मधुर पतले कंठों ने एक साथ अनुमोदन किया। लान पर हार्न बजे और रेशमी ज़रीदार पल्लुओं को सँभालती हुई संभ्रांत महिलाएँ उठीं। टा..... ...टा..... .... कार के हार्नों के बीच पतले स्वर बिखर कर खो गए।

युग मन्दिर
उन्नाव (यू० पी०)

—:❀❀❀❀:—

दो चित्र

(श्री ज्ञान प्रकाश)

मैंने आवाज़ दी, किन्तु कोई प्रत्युत्तर न आया। दो क्षण मैंने इन्तजार किया और फिर आवाज़ लगाई। तब घर में से थके और सुस्त से स्वर में एक प्रश्न हुआ—"कौन है ?"

"अरे मैं हूँ अवधू भैय्या ऽऽ···राजेश···!

दरवाजा खुल गया था। अवधू भैय्या आगे-आगे चल रहे थे, मैं पीछे-पीछे। अवधू भैय्या ने चलते-चलते ही राग हीन स्वर में पूछा—"कहो राजेश, रहे मजे में···कैसे चले···मेरा मतलब कैसे आना हुआ···कोई काम होगा तभी तो, नहीं तो तुम लोग तो··· कितने दिन बाद आना हुआ है···।"

अवधू भैय्या एक-एक शब्द तौल-तौल, सम्भाल-सम्भाल कर बोल रहे थे। उनकी आवाज़ बड़ी ही बेजान थी··· मुर्दार···उसमें स्वस्थ जीवन का उल्लास, उत्साह न था। ··तो क्या अवधू भैय्या बीमार थे···? उनके चेहरे पर वह रौनक़ नहीं है···शरीर भी कृश लग रहा है·· मैंने सोचना एकदम से रोक दिया, बोला—"सब कृपा ही थी अवधू भैय्या !···आज इण्टरव्यू के लिए बुलाया गया था, सो उसी सिलसिले में आना हुआ।"

हम आँगन में पहुँचे। आँगन से संलग्न रसोई घर था। पूरा रसोई घर धुआँ से भर रहा था। रसोई घर के एक मात्र दर्वाजे से धुआँ निकल-निकल आँगन में फैल रहा था। धुयें का प्रवेश आँखों

में हो जाने के कारण आँखों में पानी आ गया। मैं आँगन में रक्खी एक लोहे की कुर्सी पर बैठ गया।

अवधू भैय्या ने कहा—"देखो अम्मा, राजेश आए हैं।"

"अच्छा। इसी पैसेंजर से आए होंगे? क्यों राजेश? रहे तो बेटा अच्छी तरह। जीजी और जीजा अच्छी तरह हैं।" मामी ने बिना रुके एक साथ ही इतने प्रश्न कर डाले, पर रसोई घर से निकली नहीं। मैंने ही रसोई घर के द्वार पर जाकर कहा—"नमस्ते मामी। सब अच्छी तरह हैं। आप अपनी कहिए। हैं तो स्वस्थ, प्रसन्न।"

"हाँ बेटा। किसी तरह दिन कटे जा रहे हैं। जी ही रही हूँ।" मामी के स्वर में जैसे कड़ुआहट भर गई थी। धुआँ के आधिक्य के कारण मामी की धुँधली-धुँधली सी आकृति दृष्टिगोचर हो रही थी। वे पंखे से फट-फट करने लगीं। पंखे की हवा से जब धुआँ कुछ ऊपर उठा तो मैंने देखा कि धुएँ से मामी की आँखों में पानी भरा है और वे कुछ लाल हैं। परेशान सी मामी बोलीं—"ऐसा लकड़ी लाया है इस बार अवधू कि धुआँ ही धुआँ हो जाता है, ठीक से जलती ही नहीं।"

मैंने प्रसंग बदलते हुए कहा—"भाभी कहाँ हैं? नहीं दीख रहीं। तबीयत तो ठीक है न?" मामी चुप रह गई, कुछ बोली नहीं। कुछ क्षण बाद बोलीं—"चलो बेटा। उधर बैठो दालान में। तुम यहाँ खड़े होकर क्यों सत्तो हो रहे हो। अरे अवधू! राजेश को पानी-वानी पिलाओ तो....।"

मैंने कहा—"यह कोई पानी पीने का वक्त है मामी! अब बस खाना ही खाऊँगा। जल्दी ही जाना भी है इण्टरव्यू के लिए।"

इण्टरव्यू तीन बजे तक समाप्त हो गया था। दो एक पुराने सहपाठी मिल गए थे, वे जिद कर रहे थे कि साढ़े तीन वाला शो देखा जाय, मैं उनके साथ जाना नहीं चाहता था, जल्दी से जल्दी

पहुँचना चाहता था। सुबह मैं भी जल्दी में था, मामी से मुलाकात न हो सकी थी। भाभी को पहली बार देखूँगा। अभी दो ही वर्ष तो अवधू भैय्या की शादी हुए हुई। भाभी के बारे में सुना है कि पढ़ी-लिखी अपटूडेट हैं, फ़ैशनेबिल हैं। काफी उत्सुकता थी उनसे मिलकर बातचीत करने की, उन्हें थोड़ा-बहुत जानने और समझने की, क्योंकि आज ही भर का वक्त था। परसों मुझे घर वापस लौट जाना था। मां ने कहा था—एक दिन अपनी मामी के यहाँ रह लेना, एक दिन अपनी मौसी के यहाँ, जिससे कोई भी बुरा न माने। मौसेरे भाई दिनेश की भी शादी अवधू भैय्या की शादी के साल छः महीने के अन्तर पर हुई थी। मौसी ने कई बार उपालम्भ भेजे थे कि विवाह के बाद से राजेश कभी नहीं आया। इसलिए एक दिन वहाँ भी गुजारना था, पर साथी हठ कर रहे थे कि नहीं पिक्चर तो देखनी ही होगी। बहुत जिद करने लगे तो जाना ही पड़ा।

शो समाप्त होने पर जब बाहर निकला, उस समय तक शाम झुक आई थी। मित्रों से बिदा ले, रिक्शा कर जल्दी से घर पहुँचा। अकेली मामी धुयें से भरे रसोईघर में बैठी परेशान हो रही थीं। दीवार पर मिट्टी के तेल की एक ढिबरी जल रही थी। धुएँ के कारण उसका प्रकाश और भी मध्यम पड़ गया था। तरकारी की कड़ाही नीचे रक्खी हुई थी। चारों तरफ फ़ैल रहे धुएँ और अंधकार में मुझे वहाँ एक मनहूस उदासी छाई हुई सी लगी।

मैं मामी के निकट जा पहुँचा, "क्यों मामी, तुम्हीं अकेली हो क्या ? भैय्या, भाभी नहीं हैं ?"

मामी खिझलाहट में रुआँसी हो गईं, बोलीं—"हाँ भैय्या। मैं ही अकेली हूँ। तुम्हारे भैय्या नौकरी खोजने गए हैं और भाभी तुम्हारी दफ्तर से अभी लौटी नहीं।"

"क्या भैय्या को अभी नौकरी कहीं मिली नहीं ? सुना था कि जमींदारी के दफ्तर में काम कर रहे थे।"

"वहाँ थोड़े दिनों की नौकरी थी बेटा, खत्म हो गई।"

"और भाभी कहाँ काम करती हैं ?"

"किसी दफ्तर में टाइप करती हैं।" मामी जैसे यह सब बताने में एक अजीब हीनता से ग्रसित होती जा रही थीं। मैंने बात वहीं समाप्त कर दी, प्रश्न कण्ठ में अटक कर रह गया, "क्या दफ्तर से इतनी देर में लौटती हैं।"

थोड़ी देर में अवधू भैय्या आए। बातचीत होने लगी। वे बड़े ही निर्लिप्त भाव से बातचीत करते रहे—कहीं रस नहीं, राग नहीं, कोमलता नहीं। मैं बार-बार सोचने लगता—"क्या इन लोगों को मेरा आना अच्छा नहीं लगा। यही अवधू भैय्या थे, कितने उत्साह से स्वागत करते थे। आते ही लिपट जाते। मामी थीं, उनका सारा स्नेह उमड़ पड़ता, खातिरदारी करतीं, जबर्दस्ती चीजें खिलाई जातीं, कहतीं—"यह तो तुम्हारी ननिहाल है। यहाँ भी कोई इस तरह लजाता है।" पर इस बार ? इस बार जैसे इन्हें मेरा आना कुछ भला न लगा। जैसे ये मुझसे कुछ छिपा रहे हों, कुछ गोप रखना चाहते हों। क्या भाभी नौकरी कर रही हैं इसलिए ? पर यह कोई बुरी बात नहीं है। भाभी शिक्षित हैं, नौकरी कर सकती हैं, कर रही हैं। इसमें अनुचित क्या ?"

"अवधू, राजेश आओ बेटा ! तुम लोग खालो।" मामी ने रसोई से आवाज दी। हम लोग रसोई में जा पहुँचे।

मैं प्रश्न कर ही बैठा—"भाभी अभी तक नहीं आई !" पर मेरे इस प्रश्न को वहाँ की खामोशी, घुटन और उदासीनता ने पी लिया। हम लोग चुपचाप खाते रहे। खाने के बाद अवधू भैय्या ने मेरी चारपाई लगा दी और स्वयं बगलवाले कमरे में सोने चले गये। उन्होंने बताया कि उनके सिर में दर्द है। थोड़ी

देर बाद मामी आईं, उखड़ी-उखड़ी सी, घर का समाचार पूँछती रहीं, फिर उठकर चली गईं। मुझे झपकी आने लगी थी। भाभी से मिलकर कुछ बातचीत करना चाहता था, पर इस समय तो लगता है सम्भव नहीं हो पायेगा। कैसा दफ्तर है भाभी का! बेचारी इतनी मिहनत करती हैं! आफिसर कैसे हैं! उन्हें स्त्रियों को तो विशेष सुविधा देनी चाहिए। यही सब सोचते-सोचते मेरी आँखें लग गई थीं कि साँकल खटखटाने की चौंकाने वाली आवाज से नींद उचट गई। किवाड़ खुल गये थे.... .... किसी नारी का क्रोधित स्वर सुन पड़ा..........क्यों बुड्ढी! इस तरह घोड़े बेचकर सोती हो। कब से साँकल खटखटा रही हूँ और सुनाई नहीं पड़ता!"

"जरा आँख लग गई थी बहू! बड़ी देर तक जोहती रही, फिर जाने कब झपकी आ गई! भाभी बोल रही थीं!

"कै बज गया जो अभी आँख लग गइ थी!" कि तभी गिरजाघर की घड़ी ने साढ़े ग्यारह का घण्टा बजाया। मामी ने कोई उत्तर नहीं दिया। फिर कुछ क्षण कोई आवाज न आई। केवल ऊँची एड़ी के जूते की खटखट की आवाज। फिर मामी का स्वर, "बहू! खाना रक्खा हुआ है, खा लो!"

"मैं नहीं खाऊँगी। क्लब से ही मिसेज भटनागर के यहाँ चली गई थी, वहीं उन्होंने ज़िद करके खिला दिया!"

'पहले से ही कह दिया होता। ऐसे रोज-रोज खाना खराब होता है बहू!' मामी का सहमा हुआ सा स्वर।

'तो तुम्हें क्या, कमाती मैं हूँ। रुपया मेरा खर्च होता है। तुम क्यों फिकर करती हो!' मामी शायद निरुत्तर थीं .... और खट-खट करती हुई बहू चली गई थी। मैं साँस रोके चारपाई पर पड़ा था। क्या यही भाभी हैं? हाँ भाभी ही हैं ....कि फुसफुसाहट को सुनकर, मेरे कान सतर्क हो गए, 'आज तो

तुम्हें जल्दी आने को कहा था !.......राजेश आया हुआ है। क्या सोचेगा मन में.......पर आज मना करने पर भी तुमने शराब पी है। तुम्हारी आँखें लाल हैं !' अवधू भैय्या खिन्न और उदास स्वर से कह रहे थे।

'तो शराब पीने में क्या हो गया ? खाने-पीने की चीज है। मिसेज़ भटनागर ज़िद करने लगीं.......भैय्या विवश से जैसे चुप हो गए हों, करवट बदल कर शायद सोने का प्रयत्न करने लगे हों.......अब मेरे सम्मुख वह खामोशी, वह घुटन, वह निरुत्साह सब दिवस के उजाले की तरह स्पष्ट था भैय्या और मौसी की विवशता का ख्याल कर असीम दुःख के भाव से अन्तर भरता जा रहा था।

'मैं कमाती हूँ !' यह आत्मगौरव की भावना न होकर भाभी का अभिमान बन गया था और भैय्या कितने दयनीय, तुच्छ और अपदार्थ हो उठे थे।

मैं दिनेश भैय्या के यहाँ चला आया था। मौसी कह रही थीं, 'देख लो राजेश ! देख लो अपनी भाभी को। तुम बहुत भाभी-भाभी की रट लगाये रहते थे। न गुण, न सहूर ! बैठने तक की तमीज नहीं है इसे। अरे तो है भी किस खान्दान की। पूरे चमार हैं वो लोग। उठा तो ला धोती शान्ती, दिखा दे अपने भैय्या को। देख लें कि उनकी ससुराल के लोग कैसे हैं !' शान्ती ने धोती ले आकर चारपाई पर फेंक दी। 'देख रहे हो न ! यही धोती भेजी है चमरगिद्धों ने ! किसको मैं दूँ इसे, किसे दिखाऊँ ? लाज लगती है मुझे। जो तीज पर खाझा-लड्डू भेजा था, सब सड़ा-बासी। पता नहीं, कहाँ से खरीद भी लाते हैं। लाज भी नहीं लगती !'

'बेहया को क्या लाज-बीज अम्मा ! जिसको अपनी इज्जत

का कुछ ख्याल रहता है उसके लिए लाज है !' शान्ती ने उसमें जोड़ा—

'भाभी लम्बा-सा घूँघट काढ़े अपने में ही सिकुड़ी सिमटी बैठी थीं। जरा सी भी सुगबुगाहट नहीं, हरकत नहीं। जैसे वहाँ कोई निर्जीव गुड़िया बिठा दी गई हो। मौसी बिगड़ी—'बैठी क्या हो ? चलो कुछ नाश्ता-पानी का इन्तजाम करो कि अपने यहाँ का नीचपना यहाँ भी करना चाहती हो। मेहमान को नाश्ता पानी भी नहीं कराना चाहती।'

भाभी उठकर दियासलाई ढूँढ़ने लगीं। दियासलाई यहाँ ताक पर रक्खी हुई थी पर भाभी घूँघट काढ़े थीं, उन्हें दिखाई नहीं पड़ रही थी। परेशान हो रहीं थीं कि तभी दसवर्षीया नीला उठी और भाभी को एक धौल जमाकर बोली,—'यह है दिया-सलाई महरानी !'

मैंने कहा 'यह क्या करती हो नीला ! तुम्हारी बड़ी है वो !'

नीला को कदाचित् इस झिड़की की आशा नहीं थी। वह मौसी का मुँह देखने लगी।

मौसी बोलीं—'अरे खूब बड़ी है बेटा ! बिल्कुल कुढ़मग्ज है वह। यह तो कहो उसका हमारे घर में पाढ़ है, कोई दूसरा घर होता तो जानते हो सास-ननद को !''

भाभी ने हलुआ तैयार किया। हलुआ लाल हो गया था। मौसी कहने लगीं, "जला दिया न हलुआ। ओफ़ ! इसको कोई सहूर नहीं। मेरी तकदीर फूट गई थी जो यह कंजड़िन मिली !' हलुआ स्वादिष्ठ बना था, मैंने प्रशंसा भी की, पर मौसी मानी नहीं, 'मैं सब समझती हूँ, रहने दो पक्षपात करने को, उसका गुण क्या हम लोगों पर उजागर नहीं है !' कहकर मौसी तरकारी वाली से नीचे बातें करने चली गईं, शान्ती भी पान देकर उन्हीं के साथ चली गई, भैय्या स्नान करने चले गए। अकेला मैं, भाभी

और नीला। क्या बातें करूँ ? क्या न करूँ ? भाभी से यों ही बातचीत करने के ख्याल से पूँछ बैठा, 'यहाँ अच्छा तो लगता है न भाभी ! हैं यह क्या ? टप टप ········कई बूंद आँसुओं के चूकर पृथ्वी पर गिर रहे थे। मैं स्तब्ध रह गया। कितना अनर्गल प्रश्न था मेरा ? देख तो रहा हूँ अपनी आँखों से उनकी दुर्दशा ! फिर भी ! फिर भी इतना असंगत और बेमानी प्रश्न ! कितना मूढ़ हूँ मैं ! अगर बात नहीं करनी आती तो चुप क्यों नहीं बैठा रहता !' घबड़ा कर बोला, 'हैं हैं ! यह क्या करती हैं ! मुझे क्षमा करदें कि मैं अनजान में ही आप के दुखते घाव को स्पर्श कर गया ! इसी क्षण नीला तीर की तरह भागती हुई नीचे चली गई। हरहराती हुई मौसी ऊपर आई और उनके पीछे शांती तथा भैय्या। मौसी कह रही थी, 'कौन सा दु:ख देती हैं हम लोग जो एक दिन को लड़का आया तो उससे कह रही है। कौन अपने नैहर में सोने का कौर तोड़ती थी जो यहाँ हम लोग उसे खाने बगैर मारे डाल रही हैं। जरा सुने हम भी तो !············

ओफ़ ! हद हो गई ! चुप रहो मौसी ! चुप रहो ! यह बेबस, बेकस, बेजबान गाय अपने मन में जाने क्या कह रही होगी ! चुप रहो ! मेरे माध्यम से इतनी यातनायें उसे मत दो ! मैं यहाँ खुशियां बिखेरने नहीं आया हूँ बल्कि किसी के हृदय में लोहे की गरम सलाखें मेरे माध्यम से चुभोई जा रही है। मैंने मौसी को अपनी कसम खा दी कि वे भाभी को कुछ न कहें और सीढ़ियाँ उतरने लगा।

सीढ़ियाँ उतरते हुए सुना नीला कह रही थी, "भैय्या से अम्मा के लिए कह रही थी—यह डाइन बहुत सताती है।"

इच्छा हुई की दौड़कर इस छोकरी की जबान खींच लूँ, जिसने अभी से ऐसी झूठी चुगली खाने की आदत सीख ली है, वह भविष्य में जाने क्या अनर्थ करे कि तभी मातृभक्त भैय्या

का गहन, गम्भीर स्वर सुनाई पड़ा—'नीला, जरा मेरा बेंत तो ले आ !'

ओह ! आगे मैं नहीं सुन सकूँगा। सीधा वहाँ से स्टेशन पहुँचा। जहाँ इतने क्रूर, पशु लोग रहते हों, वहाँ मेरा एक क्षण ठहरना असंभव था।

× × ×

दोनों भाभियों का चित्र मेरी आँखों में नाच रहा था। एक आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र, अभिमान में इतराती हुई, अपनी सीमाओं से अनभिज्ञ, अमर्यादित और उच्छृंखल दूसरी आंसुओं से भीगी, नहायी, परतन्त्र, जड़ और हीन..........।

विद्यार्थी पुस्तकालय,
हनुमान मन्दिर,
रामबाग, इलाहाबाद

सिनिक काफ़ी

(श्री देवेन्द्र इस्सर)

ग्यारह बजे काफी हाऊस बन्द हो जाता है और अब ग्यारह बज कर पाँच मिनट थे। सामने क्रिस्टल बार से संगीत की लहरें रोशनी की किरणों में घुल कर परदों से छनती हुई बाहर आ रही थी। सुन्दर को कुछ आशा बंधी और वह क्रिस्टल बार में चला गया। क्रिस्टल बार एक बजे तक खुला रहता है। लेकिन ग्यारह बजे के बाद सब बेयरे चले जाते थे। केवल ओफीलिया ही सर्विस करती थी। इन दो घन्टों में वह वेटरस से लेकर मैनेजर तक सब काम करती थी। सुन्दर इधर उधर देख कर कोने में पड़ी हुई एक मेज पर बैठ गया और पुस्तक पढ़ने लगा।

'ह्विस्की'—ओफीलिया ने सहसा उसे चौंका दिया। 'नो—काफी'—सुन्दर ने पुस्तक पर आँखें जमाये हुये कहा। वह अपने अर्ध चेतन में काफी के ध्यान में पढ़ता चला जा रहा था।

'काफी !' — ओफीलिया आश्चर्यजनक हो मुस्कराई ! 'क्यों ! कोई विशेष बात है'—सुन्दर ने पहली बार पुस्तक से दृष्टि उठाकर उसी की ओर देखा। ओफीलिया के अधरों पर कारोबारी मुस्कान फैल गई और आँखों की उदासी गहरी हो गई। मुस्कान और उदासी की इस मिश्रित मुद्रा ने सुन्दर के शरीर में ऐसी अनुभूति उत्पन्न की जो केवल काफी पीने के बाद ही प्राप्य है।

'क्या नाम है तुम्हारा ?'

'ओफीलिया !'

ओफीलिया काफी लेने चली गई और सुन्दर ने अपने मस्तिष्क में उसका नाम काफी रख दिया। जब वह काफी लेकर आई तो सुन्दर उसकी ओर जेरलब काफी कह कर मौने हो गया। ओफीलिया समझ गई। लेकिन बात टालते हुए कहने लगी—"इस समय लोग काफी नहीं, मदिरा पीते हैं।' ओफीलिया सुन्दर पर एक व्यंगात्मक उदास मुस्कान फेंक कर चली गई।

सुन्दर ने काफी की चुस्की ली और पुस्तक पढ़ने लगा। लेकिन डायेस पर पाश्चात्य संगीत ने उसका ध्यान पढ़ने से हटा दिया और वह अपने आसपास की मेजों पर मदिरा पान करते बदमस्त लोगों को खुश गप्पियाँ करते देखने पर विवश हो गया। थोड़ी देर बाद संगीत बन्द हो गया और संगीतकार चले गये। लेकिन अब भी प्यालों की खनक और नकीले कह कहों की ध्वनि मदिरा और इत्र की सुगन्ध में लिपट कर क्रिस्टल बार के वातावरण में घुली जा रही थी। उसके सामने अल्ट्रा माडर्न जोड़ा मदिरा पान कर रहा था। उन्होंने एक दूसरे की ओर देखा और सहसा हँसने लगे। पुरुष ने स्त्री को अपनी ओर खींचा और उसका चुम्बन लेने का प्रयत्न किया। लेकिन स्त्री थिरक कर उसकी बाहों के आलिङ्गन से निकल गई और डायेस पर जा कर प्यानों बजाने लगी। प्याले लड़खड़ाये और प्यानों का संगीत बेसुरा शोर मचाने लगा। गैलरी में एक अधेड़ अर्ध अंग्रेज और अर्ध हिन्दुस्तानी पुरुष सीटी बजा रहे थे। उस अधेड़ पुरुष ने नीचे झाँका और प्यानों की ध्वनि पर सीटी से स्वर देने लगा। स्त्री ने उसकी ओर देखा और मुस्करा दी। पुरुष ने स्त्री की मुस्कान का उत्तर अपनी आँख से दिया और उसकी सीटी लय की सीमा से बाहर हो गई। स्त्री का साथी मदिरा का अंतिम

घूँट भी पी चुका था। वह झूमता हुआ उठा और डायेस पर आकर नाचने लगा। स्त्री ने अपना गाऊन उतार दिया। और छाती और शरीर के कुछ भागों के अतिरिक्त नग्न हो गई। पुरुष ने एक दम उसे आलिङ्गन में ले लिया और दोनों मदिरा के नशे में चूर लड़-खड़ाते हुये कदमों से नृत्यमुद्रा में फर्श पर गिर गये। अधेड़ पुरुष ने वेग से सीटी दी और फिर मदिरा पीने में मग्न हो गया। काफी अर्थात् ओफीलिया ने आकर शीघ्र पर्दा गिरा दिया और फिर कांऊटर पर जाकर बैठ गई। सुन्दर की जिह्वा पर काफी की कड़वाहट जम कर रह गई और उसने पस्तक उठाई और काऊंटर पर आ गया।

'इतनी जल्दी' — काफी जेरलब मुस्कराई।

'हाँ', सुन्दर ने पैसे और टिप देते हुए कहा।

'क्यों क्रिस्टल बार पसंद नहीं आया।'

'नहीं'।

'क्रिस्टल बार में कितनी दिलचस्पियाँ है। यह पुरुष भी बड़ा दिलचस्प है। जब वह मदिरा पीता है तो स्त्री के पीछे भागता है और जब स्त्री के पीछे भागता है तो मदिरा पीता है। काफी ने दराज में पैसे डालते हुए कहा। वह पैसे गिनते-गिनते एकदम रुक गई। —'यह अधिक हैं।' — उसने टिप के पैसे लौटाते हुए कहा।

सुन्दर ने प्रश्नसूचक दृष्टि से उसकी ओर देखा। 'इस समय मैं मैनेजर हूँ। साधारण वेटरस नहीं।' काफी ने बिल देते हुए कहा। सुन्दर काफी की कड़वाहट और मदिरा की गंध लेते हुए क्रिस्टल बार से चला गया। लेकिन सारी रात उसके मस्तिष्क में बार का दृश्य छाया रहा और उसमें काऊंटर पर मौन सूतव्य बैठी हुई काफी की जलती बुझती आँखें चुभती हुई सी नजर आने लगीं। काफी कितनी मकानी कल है परन्तु कितनी दिलचस्प और खतरनाक भी।

दूसरे दिन वह ग्यारह बजकर पाँच मिनट पर क्रिस्टल बार गया। एक वृद्ध फौजी अफसर एक युवा एङ्गलो इन्डियन लड़की को पैत्रिक स्नेह से पुचकार रहा था और कभी २ उसके गालों को थपथपा देता था।

'यू आर ए होली मदर।'

'यू आर एवर्जिन मेरी।' वृद्ध फौजी अफसर मदिरा पीकर बहक रहा था। सुन्दर अपने विशेष स्थान पर बैठ गया।

'ह्विसकी'—काफी ने पूछा।

'नो—काफी'—सुन्दर ने उत्तर दिया। काफी अपने खुले बालों को झटकती हुई और मुस्कराती हुई चली गई।

ग्यारह बजकर पाँच मिनट पर क्रिस्टल बार में सुन्दर का आना नियम हो गया। हर बार काफी पूछती—'ह्विसकी' और हर बार 'नो-काफी'—कहने पर वह मुस्कराकर चली जाती। एक दिन सुन्दर ने पूछा—'तुम प्रतिदिन मुझसे ह्विस्की क्यों पूछती हो—यद्यपि तुम जानती हो कि मैं काफी पसन्द करता हूँ।'

'मैंने सोचा एक दिन आप काफी से तंग आ जायेंगे।

वह मुस्कराई।

'क्यों ?'—सुन्दर ने आंख झपकाई।

'काफी भी कोई पीने की वस्तु है।'—उसने लाडबाली पन से उत्तर दिया।

'क्यों ?'

चाय पियो—"ह्विस्की पियो"—'यह काफी क्या हुई-जिसमें न चाय की लज्जत, न मदिरा की तलखी, काफी क्या—जैसे चाय में रोमांस भर दिया जाये—एक काल्पनिक चित्र और फिर आदमी बेकार ख्यालों के हजूम में खो जाय।"

"बड़ा विचित्र दर्शन है।"

"मदिरा में तलखी तो है—लेकिन जीवन की तलखी। एक दिन पी के देखो। सारा जीवन एक पैग में उमड़ आएगा।"

काफी उठकर जाने लगी।

"तुम सिनिक (Cynic) हो काफी।" सुन्दर को सहसा अनुभव हुआ।

"सिनिक"—काफी पहली बार खिलखिलाकर हँसी। कितनी विचित्र बात है। वह ठहाका लगाकर हँसी। उसके स्वर में आकर्षण अवश्य था। एक कोरा बाहरी स्वर और एक मकानीकल मुस्कान। लेकिन इस ठहाके में जैसे नन्हीं २ घंटियाँ बज उठी हों। बार के संगीत से अधिक सहर अंग्रेज और काफी के सकरसे अधिक मारन उसकी मुस्कान फैलती सिमटती रहती थी। लेकिन उसकी नीली २ आंखों की उदासी स्थिर थी। सुन्दर ने उसका नाम 'सिनिक काफी' रख दिया।

एक दिन क्रिस्टलबार बिल्कुल खाली था और काफी भी व्यस्त न थी। सुन्दर ने काफी से कहा—"मैंने पहले तुम्हारा नाम काफी रखा था। लेकिन जब मालूम हुआ कि तुम्हें काफी नापसंद है तो उसे बदलकर सिनिक काफी रख दिया।" "यह नाम तुम्हें पसन्द है।" सुन्दर ने उससे कहा—"ब्यूटीफुल, तुम जीनियस हो। सिनिक काफी अर्थात् मदिरा—गाती, नाचती, उबलती, कितना विचित्र।"—वह करीब २ कुर्सी से उछल पड़ी। लेकिन सुन्दर को यह सब कुछ किसी रहस्य को छिपाने की कोशिश मालूम हुआ।

"सिनिक काफी—तुमने शादी क्यों नहीं की ?"

"शादी" !

सुन्दर ने उसकी तीखी दृष्टि से बचने के लिए काफी की चुस्की ली।

"मेरा विचार है—तमाम पुरुषों को शादी करनी चाहिये और किसी स्त्री को नहीं।" काफी स्वयं ही हँस पड़ीं।

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि तमाम पुरुष मूर्ख होते है, तुम नहीं। सुन्दर, पुरुष। तुम तो बच्चे हो।" काफी ने आंखों ही आंखों में उसे बुलाया।

"क्या तुमने कभी प्रेम किया है ?"

'प्रेम ! नानसेन्स ! यहाँ सब लोग मदिरा पीकर प्रेम करने आते हैं।' उसने बिना दिलचस्पी प्रकट किए कहा और ह्विस्की के पैग को अधरों से लगा लिया।

"क्या तुम्हें यह जीवन पसन्द हैं—यह कुरूप दृश्य—यह गंदगी।"

"बहुत" काफी शब्द खींच कर बोली। कितना अच्छा जीवन है। सेक्स मानव की स्वाभाविक भावना है और उसकी प्रत्येक रूप सुन्दर।

"तो फिर तुम पर्दे क्यों गिरा देती हो।" सुन्दर लाजवाब होकर सटपटा गया था।

"क्या मैं आपके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने में विवश हूँ।" काफी एकदम रुष्ट हो गई और ह्विस्की का पैग परे फैनकर कर उठकर चली गई और काऊंटर पर बोतलों को नये ढंग से सजाने लगी जो पहले ही सुन्दर ढंग से पड़ी हुई थीं। उसके शरीर में एक बेचैनी झलक रही थी। सुन्दर उसे काऊंटर पर पैसे देने गया। उसने देखा उसकी आंखों में आंसुओं की चमक थी।

"ले जाइये ये टिकलियां। यह बार है मदिरा घर-काफी हाउस नहीं। यहाँ नृत्य है, संगीत है, सब कुछ है।" काफी चिल्लाये जा रही थी। विचित्र लड़की है सिनिक काफी भी, सुन्दर ने सोचा।

दूसरे दिन जब सुन्दर क्रिस्टल बार गया तो सिनिक काफी

उससे ह्विस्की पूछने न आई और चुपचाप काफी मेज पर रखकर चली गई। महीनों बीत गए। मदिरा में डूबे हुए ठहाके और साज बजते रहे। बदमस्तियाँ और नृत्य जारी रहे। लेकिन सिनिक काफी को जैसे किसी ने गूँगा कर दिया और उसकी आंखों में आग लगा दी। सुन्दर को क्रिस्टल बार अब बोर महसूस होने लगा। उसने दो एक बार काफी को बुलाने की भी कोशिश की। लेकिन उसने अपनी कारोबारी मुस्कान के अतिरिक्त कोई दिलचस्पी प्रकट न की। अब भी कई बार मदिरा के नशे में शरीर एक दूसरे से टकराकर नृत्यमुद्रा में गिर जाते थे। लेकिन अब काफी पर्दे नहीं गिराती थी बल्कि प्यानों के संगीत के शोर में इन बदमस्तियां की ओर नग्न होने में सहायता दे देती। सुन्दर ने उकताकर क्रिस्टल बार जाना छोड़ दिया।

एक वर्ष बाद जब सुन्दर काश्मीर से वापिस आया तो उसके चेहरे पर भी सिनिक काफी की भाँति उदासी छाई हुई थी। उसका विचार था कि वह कश्मीर की हिमाच्छादित चोटियां अपनी छाती पर रख देगा और उसकी आग को ठंडा कर देगा। जो उर्वशी के प्रेम ने उनकी छाती में भड़का दी थी और किसी फौजी अफसर से शादी कर के उसने उसे तेज कर दिया। लेकिन बर्फ पिघल गई और आग भड़कती रही। उसने मदिरा से इस आग को ठंडा करना चाहा। लेकिन आग से आग कहीं बुझती है।

इस समय ग्यारह बजकर पाँच मिनट थे। सुन्दर बाहर जाने लगा।

"कहां जा रहे हो सुन्दर इतनी रात गए।" उनके मित्र ने पूँछा।

"क्रिस्टल बार"।

'सुन्दर तुम पागल हो जाओगे। तुम जीनियस हो।'

'जीनियस ! हर जीनियस पर एक ऐसा समय आता है जब वह या तो पागल हो जाता है या म्राकेट ।'

'सुन्दर' !

'मैं गीत सुनता रहा और प्रेम के दिल की धड़कने कार के पहियों के साथ घूमती रहीं मानव का मस्तिष्क चाँदी के सिक्कों में खनकता रहा और जीनियस के चेहरे पर कार धूल उड़ाती निकल गई ।' उसकी आखें शून्य में खो गई और वह हंस पड़ा ।

'तुम कब तक अपने आप को धोखा देते रहोगे ।

'जब तक धोखा सुन्दर है और सौंदर्य महज एक विडम्बना ।' सुन्दर यह कह कोट संभालकर बाहर चला गया ।

सुन्दर क्रिस्टल बार में अपने विशेष स्थान पर बैठ गया । सिनिक काफी काऊंटर पर खड़ी बिल बना रही थी उसकी आँखों की उदासी एक वर्ष में गहरी हो गई थी । और उसके होठों की मुस्कान अधिक कारोबारी । काफी उसे देखकर एकदम उसके पास आ गई । 'काफी'—उसने पूछा ।

'नो—ह्विसकी' । सुन्दर ने आंख मिलाये बिना उत्तर दिया ।

"ह्विसकी" । वह चौंकी और चली गई और फौरन लौट आयी ।

"आपने ह्विसकी कहा है ना ।" उसने सोचा कहीं गलती न हो गई हो ।

"हां, ह्विसकी । क्या कोई विशेष बात है ।" सुन्दर चिढ़ सा गया ।

"नहीं, "काफी खामोशी से चली गई और ह्विसकी मेज पर रख दी और स्वयं काऊंटर पर ढंग से रखी हुई बोतलों को नए सिरे से सजाने लगी । सुन्दर ने क्रिस्टल बार में चारों ओर देखा

आर मुस्करा दिया। उसने गिलास को होठों से लगाया ही था कि एक झटके से काफी ने उसका पैग परे फेंक दिया।

"सारी" (Sorry) काफी रो सी पड़ी और काऊंटर पर चली गई। संगीत एक क्षण के लिये रुक गया। नृत्य एक क्षण के लिये थम गया। अपने आप में डूबे हुए लोग एक क्षण के लिये चौंक पड़े। लोग फिर मदिरा में डूब गये। फिर वही हमाहमी। जैसे कुछ भी न हुआ हो। काफी काऊंटर पर बोतलों को नए सिरे से तरतीब दे रही थी और रोए जा रही थी। सुन्दर फर्श पर टूटे हुए गिलास के सिन पर छलकती हुई ह्विसकी की बूँद को देख रहा था और सोच रहा था कि सिनिक काफी को क्या हो गया है।

एच-३१५-न्यू राजेन्द्रनगर
नई देहली

"ग से गधा और घ से घर"

(सुश्री लीला अवस्थी)

आज हिमू के विवाह को एक वर्ष हो गया था और उसकी पत्नी सुमन के गोद में दो दिन का बालक भी आ गया था। सुमन पहले पहल लड़के की मां बनकर फूली नहीं समा रही थी। हिमू भी मन ही मन बड़ा प्रसन्न था, परन्तु वह....अपनी प्रसन्नता प्रकट नहीं कर पा रहा था..जिसका कारण था, घर वालों का रुख। हिमू की मां को, जिन्हें सब काकी कहते थे, अपने पहले पुत्र के विवाह के वर्षगांठ एवं पहली बार दादी बनने की तनिक भी प्रसन्नता न थी। वह चुप-चाप अपने कमरे में बैठी ध्यान लगाये माला फेर रही थीं। अब काकी के लिये भगवान् के सिवाय और था ही कौन ? जिस 'घर' की परिभाषा वह अपने बच्चों को बचपन से सिखाती चली आ रही थीं। वही घर आज, उसके बुढ़ापे में, उसकी इच्छाओं के बिलकुल विपरीत दृष्टिगोचर हो रहा था। वह मन ही मन बड़ी दुखी थी और दिन-रात 'मुरलीवाले' के चरणों को पकड़कर अपने घर की रक्षा के लिये प्रार्थना कर रही थी।

काकी अपने विवाह के बाद एक मध्यम वर्ग के सम्पन्न घर की अधिकारिणी थीं। उनके पति उसे कभी भी पैसों से दुखी नहीं रखते थे। उनके चार संतानें थीं, दो लड़के और दो लड़कियाँ। सबसे बड़े पुत्र का नाम हिमांशु था, परन्तु कहलाता वह हिमू था। काकी ने अपने सारे बच्चों की पढ़ाई घर में ही

आरम्भ करायी थी । वर्णमाला और पचास तक की गिनती प्रत्येक बालक को पांच वर्ष के भीतर ही भीतर पूरी करा दिया करती थीं । आज हिमू के ब्याह की वर्षगांठ के दिन काकी को हिमू का बाल रूप साफ याद आ रहा था । वह उसकी गोद में बैठा 'क से कबूतर' 'ख से खरगोश' 'ग से गधा' और 'घ से घर' आदि तोतली बोली में सीख रहा है । काकी समझाती जातीं 'हिमू खिड़की पर बैठे हुए कबूतर को देखो ?' 'क' से यही कबूतर होता है । फिर खरगोश का खिलौना दिखाकर 'ख' को समझातीं । मिट्टी वाले की याद दिलाकर उसके गधे की सहायता से 'ग' का अक्षर पहचनवाती । वह पीली मिट्टी बेचनेवाला जो आता है न, सुबह सुबह, उसके साथ दो गधे भी तो आते हैं । वह कभी-कभी कैसा हांचू-हांचू करते हैं और मिट्टी वाले के डन्डे की मार भी खाते हैं । 'ग' से वही गधा बनता है । और 'घ' से देखो न, 'घ' से हमारा यह अपना घर बनता है । इस घर में तुम्हारे बाबूजी, मैं और तुम सब बहन भाई रहते हैं, हम सब हँसते हैं, खेलते हैं, पढ़ते हैं, खाते हैं और सो जाते हैं । जिस घर से हँसने, खेलने और पढ़ने की ध्वनि सुनाई देती रहे वही घर है.... यह घर 'घ' से बनता है । समझ गए न ?'

काकी बार-बार गधा एवं घर में अन्तर दिखाया करती थी । गधा जानवर होता है , परन्तु जो अपने घर में कलह और दुख संजोता है, वह भी गधा ही होता है घर में तो केवल आनन्द और प्रसन्नता ही रहती है । वह किसी प्रकार से अपने घर को अपनी चाची के घर के समान नहीं बनाना चाहती थी। जब काकी के सिर से उसके माता, पिता की छत्रछाया उठ गयी थी तभी वह चाची की छत्रछाया में आ गई थी । कहां मां का शान्त घर और कहां चाची का कलहपूर्ण घर । काकी अपने बचपन से ही अच्छे और

बुरे घर को पहचान गई थीं । इसीलिये वह अपना और अपने बच्चों का घर उत्तमोत्तम बनाने के प्रयत्न में लगी हुई थीं।

काकी अपना सारा प्यार अपने बच्चों पर लुटाया करती, जिसका सब से बड़ा भाग हिमू को मिलता था, एक तो लड़का होने के कारण और दूसरे पहली सन्तान होने के कारण। काकी अपने बच्चों को खाना-पीना, कपड़े सीना आदि सब अपने हाथों करती थीं। कोई बीमार हो जाय तो दिन-रात सेवा करते-करते नहीं थकती थीं। वह परिश्रम करके चूर हो जाती थीं, नींद की कमी के कारण आँखें फटी जाती थीं, फिर भी वह अपने बीमार बच्चे को नहीं छोड़ पाती थीं। इस प्रकार की सेवाओं का अधिक भाग हिमू को ही मिला, क्योंकि बचपन से हिमू संसार की सारी बीमारियों का स्वाद चख चुका था। शहर में जो बीमारी एक वर्ष बाद फैलनेवाली होती, वह हिमू एक वर्ष पहले ही भुगत बैठता। तीन बार टायफाइड, चार बार निमोनियाँ और पता नहीं कितनी बार मलेरिया आदि बीमारियों में 'हिमू' की सेवा करते करते हिमू; काकी का प्राण प्रतीक बन गया था। चौबीसों घंटे उसकी आँखें हिमू पर ही गड़ी रहती थीं। हिमू हँसता तो वह मुसकराती, हिमू रोता तो वह उदास हो जाती और हिमू खेलता तो वह उसकी बातों पर, उसकी बाल-क्रीड़ा पर वारी-वारी जाती थी। हिमू की छोटी-छोटी बातों पर काकी बेचारी लट्टू हुई जाती थीं।

बचपन से इस प्रकार के संपर्क के कारण काकी और हिमू एक प्राण दो शरीर बन गये थे। स्कूल के दिन तो इसी प्रकार के लाड़-प्यार में कट गए, परन्तु जब वह कालेज पहुँच गया तब भी बिना काकी की गोद में सिर रक्खे वह सो नहीं पाता था। जब तक काकी खाना न परसे उसे अच्छा ही न लगता। कालेज में भी वह काकी के हाथ के सिले कमीज एवं पाजामा

पहना करता था। घर में जब भी कभी मिठाई आ जाती, तो हिमू को दोहरा...अपना और काकी का....हिस्सा खाने को मिलता था, क्योंकि काकी अपना हिस्सा लेने के बाद कोई न कोई बहाना करके उसे हिमू को खिला दिया करती। कालेज में जो भी कुछ सिखाया जाता था हिमू खाना खाते समय काकी को अवश्य समझाता। जब कभी काकी बीमार हो जाती तो हिमू काकी के सिरहाने से उठाए न उठता। काकी की प्रत्येक कराह पर उसके प्राण मसोस....मसोस कर रह जाते।

काकी को हिमू से बड़ी-बड़ी आशायें थीं—वह पढ़-लिख जायेगा, पिता का कारोबार सम्हालेगा, अपना मकान बनावयेगा, उसका विवाह होगा, चाँद सी बहू लायेगा आदि। वह जब भी सुनती कि अमुक लड़के ने अपनी बूढ़ी मां को घर से निकाल दिया या उस युवक ने अपनी मां को खाने, कपड़े से दुखी रखा अथवा किसी लड़के के कारण उसके मां के आंसू नहीं रुकते तो वह मन ही मन कहती, जो भी हो, हिमू यह सब मेरे साथ नहीं कर सकता। वह मुझे बुढ़ापे में बड़ा सुख देगा।

इसी प्रकार के विचारों में हिमू की पढ़ाई पूरी हो गयी और वह अपने पिता के साथ व्यापार में हाथ बटाने लगा। जब से हिमू ने व्यापार का काम संहाला उसके पिता जी को बड़ा आराम हो गया। वह दोपहर के समय सोने लगे, शाम को ही दूकान से उठाकर घर आ जाते। काकी से वह हिमू की बड़ी बड़ी प्रशंसा करते। काकी हिमू की प्रशंसा सुनकर फूली न समाती। माथा आसमान में चढ़ जाता, छाती चौड़ी हो जाती और वह बड़े गर्व से कहती—मेरा बेटा जो ठहरा।' इस वाक्य को लेकर कभी पति-पत्नी में चोंचें भी चल जातीं। हिमू अपने माता-पिता से आदर पाने के साथ-साथ अपने छोटे बहन भाई पर भी बड़ा स्नेह रखता था। इस प्रकार वह काकी के कुटुम्ब में 'घर' की

परिभाषा को पूर्ण रूप से चरितार्थ कर रहा था। उसके विचार से उसके घर में कोई गधा नहीं था।

हिमू की चाल ढाल देखकर हिमू के पिता ने हिमू के नाम से एक सुन्दर सा घर बनवा दिया। दुकान आदि भी हिमू के नाम से कर दी। उसके विवाह की भी चर्चा चलने लगी, परन्तु इसके लिए वह राजी न हुआ। उसने साफ कह दिया कि जब तक उसकी छोटी बहन रमा का विवाह न हो जायगा, वह अपना विवाह न करेगा।....अस्तु रमा के लिए वर और भी जल्दी खोजा जाने लगा। साल के अन्दर ही रमा का विवाह एक सम्पन्न घर के लड़के के साथ कर दिया गया। उस विवाह के इन्तजाम को देख हिमू के मोहल्ले वाले, हिमू की योग्यता की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे।

धीरे-धीरे हिमू उस मोहल्ले में 'सुपुत्र' का प्रतीक बन गया। सब ही अपने पुत्र को हिमू की भांति बनाना चाहते थे। हिमू के सद्‌गुणों की प्रशंसा दूर-दूर तक फैल जाने से हिमू के लिए अच्छे से अच्छे घरों की लड़कियों के साथ विवाह का प्रस्ताव आने लगे। परन्तु हिमू ने इस ओर कोई अनुचित उत्सुकता न दिखाई और बहू का चुनाव काकी पर ही छोड़ दिया। काकी बेचारी घर, घर जाती और लड़कियां देख कर लौट आतीं। उन्हें अपने हेमू के लायक कोई दिखाई ही न देती।

दो साल की ढूंढ़ खोज और छान-बीन के बाद हिमू के पिता ने अन्त में विवाह एक जगह तय कर ही दिया। वह अत्यंत प्रसन्न थे। बेटे का ब्याह होगा। मनचाही सुन्दर बहू रुनुक-झुनुक करती घर आयेगी! हिमू की मां को अब सुख मिलेगा। बहू घर का काम-काज संभालेगी""दौड़ दौड़ कर काम करेगी। उन्होंने चटपट सगुन की तैयारी की और शुभ मुहूर्त में सगुन ले भी लिया। परन्तु जिस शुभ दिन को देखने के लिए वह इतने दिनों

से आतुर थे, वह देखना उन्हें नहीं बदा था। सगुन के दस ही दिन बाद वह अपने सुख-स्वप्न आँखों में लिए अचानक चल बसे। विवाह साल भर के लिए टल गया।

परन्तु किसी के आने या जाने से इस संसार का कोई काम रुकता नहीं। समय अपनी गति के साथ-साथ प्रियजनों की मधुर और विरोधियों की कड़वी स्मृतियों को फीका कर देता है। इन्हीं फीकी स्मृतियों को हृदय में संजोये मनुष्य मशीन के एक पुरजे की भाँति काम करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है। चाहे ठीक अथवा गलत दिशा में। इसी क्रम के अनुसार समय आने पर हिमू का विवाह होना भी अवश्यं भावी था। शुभ दिन और मुहूर्त देखकर हिमू का विवाह-संस्कार पूरा हुआ। इस विवाह में काकी को यदि एक ओर अपने पति के अभाव का दुःख था तो दूसरी ओर अपनी वर्षों की कामना की पूर्ति होने की प्रसन्नता भी थी। उसने अपनी कोई भी इच्छा अधूरी न रखी। विवाह के तीन दिन पहले ही दर्वाजे पर शहनाईवालों को बिठा दिया, सत्य-नारायण की कथा कहलाई, घर-घर से औरतों, बच्चों को बुला-कर कीर्तन कराया, गरीबों को खाना बाँटा और अनिष्टों के निवारण के लिये पाठ बिठाया। काकी की सहेलियाँ और मुहल्ले की स्त्रियाँ बधाई देने आईं तो काकी की आँखों में खुशी के आँसू छल-छला पड़े। वह हाथ जोड़कर कहती, भगवान् ने मेरे हिमू को इस लायक बना दिया कि वह घोड़ी पर चढ़ कर बारात ले जाय और चांद सी बहू को व्याह लाये। काकी की आंखों में आंसू देख कर उसकी सहेलियों की आंखों में भी आंसू छलक पड़े थे और काकी के भाग्य की सराहना करते-करते किसी का मुँह न थकता। चौबीसों घण्टे काकी के घर में शहनाई, ढोलक, स्त्री-बच्चों की ही ''ही '''ही '''ही हा हा की ही ध्वनियां सुनाई पड़तीं। आनन्द और प्रसन्नता की देवी मानों काकी के चौखट पर लुटी-

लुटी पड़ती थी। जो कोई भी काकी के घर आता उसी के अंग-प्रत्यंग से प्रसन्नता फूट पड़ती। इसी वातावरण में हिमू को उबटन लगा, कंगन बँधा, नेग-चार हुए, सेहरा बँधा और फिर हिमू की घुड़चढ़ी जिस धूमधाम से हुई उसकी क्या कहना। विवाह के समय लड़की-लड़के पर सौन्दर्य और कमनीयता यों ही आ जाती है और फिर हिमू तो हिमू ठहरा। सफेद चमकती हुई शेरवानी, साफा और उस पर छोटा-सा मुकुट पहिने और सेहरा बाँधे वह बहुत ही प्यारा लग रहा था। काकी की सहेलियों ने कई बार हिमू पर से नजरें उतारीं।

इधर यह हो रहा था और उधर हिमू के मित्र उसे बधाई देते नहीं थकते थे। दावत हो रही थी, इष्ट-मित्र, सगे-सम्बन्धी, नातेदार और रिश्तेदार बारात के लिए सजे खड़े थे। बैंडवाले अपने करिश्मे दिखाने में पीछे नहीं हट रहे थे। इसी हुल्लड़ के बीच मोहल्ले की सारी अविवाहिता लड़कियों की टोली रमा के साथ घोड़ी के पास जाकर खड़ी हो गयी! जैसे ही हिमू ने घोड़ी पर चढ़ने के लिये पैर उठाया कि सारी लड़कियों ने घोड़ी को रोक लिया। काकी ने जब उन सब लड़कियों को साड़ी-चोली बांटीं तब कहीं हिमू घोड़े पर चढ़ पाया और बारात झमक कर आगे बढ़ी। काकी अपनी सहेलियों के साथ बारात का प्रस्थान देख रही थीं। प्रसन्नता के आंसू उनके रोके नहीं रुकते थे। एक ओर यह खुशी और साथ ही साथ पति की याद। वह हृदय के आवेग को न रोक सकी और फफक कर बोली—हिमू के पिता यह दिन देखने के लिए तरस-तरस के रह गये। कितनी आशा से उन्होंने उस दिन सगुन लिया था। आज के लिए भगवान् ने उन्हें नहीं छोड़ा। उसकी सहेलियों ने उसे समझाया कि जहाँ भी वह होंगे उनकी आत्मा को आज शान्ति मिली होगी""""या क्या पता बारात के साथ ही साथ वह जा भी रहे हों""""उनका हिमू पर बड़ा प्यार था न।

एक ओर इस प्रकार की बातें चल रही थीं तो दूसरी ओर हिमू की शानदार बारात आगे बढ़ रही थी। जिन-जिन सड़कों से हिमू की बारात निकलती वहाँ के सब निवासी सड़कों, छज्जों, छतों पर खड़े होकर बारात देखते और प्रसन्न होते। हिमू के ससुरालवालों ने बड़ी धूम-धाम के साथ विवाह पूरा किया और क्यों न करते ? उनकी तो वह एकमात्र लड़की थी। हिमू के सास-ससुर ने अपने अरमानों को कार्य रूप में परिणत कर दिया था। अगले दिन हिमू बहू के साथ गाजे-बाजे के साथ घर लौट आया।

काकी के घर में बहू को देखने के लिये भीड़ लगी हुई थी। हलवाई चार पाँच सौ मेहमानों के लिये खाना बनाने में व्यस्त थे। देखते ही देखते हिमू अपने मोहल्ले में पहुँचा, मोहल्ले वालों ने फूल बरसाए, पैसे न्योछावर किये। बच्चों का शोर और बैंड की तुमुल-ध्वनि आकाश तक छा गई। आनन्द की देवी मानों दीवानी हुई जा रही थीं। मोहल्ले में इस प्रकार का वातावरण आज से पहिले किसी ने भी न देखा था। ऐसा बोध होता, मानों सब अपने को भूल गये हैं। दरवाजे पर पहुँच कर हिमू और बहू को कार से उतारा गया। बहू ने घर में प्रवेश किया। नव-विवाहित दम्पति ने आकर काकी के पैर छुये। काकी ने सजल चक्षु हो मुक्त-कण्ठ से उन्हें आशीष दी। जब काकी बहू का घूँघट उठाने लगीं तब काकी की सहेलियों ने उसे रोक कर उसकी पुरानी कसम याद दिलाई और कहा अब बहू घर आ गई है। पहले नाच कर अपना वादा पूरा करो और फिर ग्यारह बार बहू पर पैसे न्योछावर करो। इसके पहले तुम बहू का मुखड़ा न देख सकोगी। काकी बेचारी विवशता से हँसकर नाचने लगी। बीच-बीच में वह रुककर बहू पर पैसे न्योछावर करती। सभी हँसने लगे। काकी ने फिर बहू का मुख देखा, मुंह दिखायी का नेग दिया। सब काकी को बधाई देने लगे। घंटे दो घंटे तक एक

ओर मुँह दिखायी चल रही थी तो दूसरी ओर ढोलक पर गाने गाये जा रहे थे। फिर खाना शुरू हुआ। खाना खाकर भीड़ छटने लगी। इस प्रकार हिमू के विवाह का पहला दिन कट गया।

हिमू की बहू सुमन बचपन से बड़े लाड़ में पली थी। इस लाड़ ने उसकी आदतों और विचारों को दूषित कर दिया था। उसमें इकलौती बेटी के सारे अवगुण थे। वह सदा यह चाहती कि घर में जो भी कुछ आये वह उसी के लिये हो, घर में सब उसकी ही बड़ाई करते रहें। जब तक वह न खाय कोई न खाय। वह चाहती थी कि अधिक से अधिक पैसा उस पर खर्च किया जाय। कहीं सौ-सौ रुपये के लड्डू मिलते हों तो वह उसे ही खाकर जीना चाहती थी। जभी देखो तभी वह रूठ-रूठकर अपने पति को काम पर जाने से रोकती। उसे साथ लेकर इधर-उधर घूमने जाती और वह भी बिना मां की आज्ञा लिये।

बहू की यह रंगत देखकर कुछ दिन तो काकी चुप रही, परन्तु पन्द्रह-बीस दिन बाद उसे यह सब खलने लगा। दिन कटने लगे, हिमू को बहू में लिप्त देखकर काकी ने अपने दूसरे बेटे सुधी की पढ़ाई बन्द करवाकर दूकान पर बैठा दिया। यह सब होता देख हिमू मन ही मन प्रसन्न हुआ। वह अब घंटे दो घंटे सुबह को और घंटे दो घंटे शाम को दूकान जाकर हिसाब-किताब देख लेता। पैसा अपने हाथों में रखता और फिर दिन भर घर से गायब। बेचारा सुधी एकदम कालेज छोड़कर दूकान में बैठने के कारण खिन्न था। दूकान में उसका मन नहीं लगता था, परन्तु काकी की बात रखने के लिये चुप था। दूसरी ओर हिमू की लापरवाही के कारण उसे सुबह के नौ बजे से रात के नौ बजे तक काम करना पड़ता। हिमू सुमन और सुमन के कुटुम्ब में ऐसा खो गया था कि उसे अपने भाई, बहन, मां सब बुरे

लगने लगे। किसी से सीधे मुंह नहीं बोलता था। घर की छोटी-छोटी बातों पर खीज उठता। यह देखकर छोटे भाई-बहन सब उससे दूर-दूर रहते और काकी भी चुप रहने लगी। पास-पड़ोसवाले सब आश्चर्य करने लगे कि हिमू इतनी जल्दी कैसे बदल गया, परन्तु उनको यह नहीं मालूम था कि हिमू सुमन के घरवालों की बेइन्तिहा खुशामदों ने उसके दिमाग को फुला दिया था। उतनी खुशामद मां तो कर नहीं सकती थी। वह मां, जिसने बचपन में न जाने कितनी बार उसे मारा, धमकाया हो। वह पुत्र के बड़े होने पर उसके पैरों पर दिखावे के फूल कभी नहीं चढ़ा सकती। हां, आवश्यकता पढ़ने पर अपने हृदय का सारा खून दे सकती है। दिन-रात एक करके सेवा कर सकती है, अनिष्ट निवारण के लिये ठाकुर जी के सामने जप-तप और काष्ठा कर सकती है, गिड़गिड़ा सकती है, रो सकती है। यह बात हिमू को अपने यौवन की आंधी में सूझ नहीं सकती थी। अतः घर में खाई पड़ी और बढ़ने लगी। देखते ही देखते दो महीने बीत गये।

एक दिन जब रात का खाना खाने के बाद सब बैठक में बैठे रेडियो सुन रहे थे, काकी बोल उठी, अरे हिमू अप्रैल का महीना आ गया, सबके लिये कपड़े सिलवाने हैं। हिमू ने बड़े रूखेपन में जवाब दिया, कल सुबह पैसे लेकर जो चाहो खरीद लाना। काकी चुप हो गयीं। इस चुप्पी को देख सुमन बोली, ज्यादा पैसे खर्च कीजिये। कटपीस खरीद लाना, उन्हीं का जोड़कर आपके घर में पहनने की धोतियां भी बन जायेंगी। काकी के मन में आग लग गयी। बोली—बहू अभी मेरे ऐसे दिन नहीं आये हैं। जब आ जायेंगे तब कटपीस की शरण लूंगी। बात बढ़ती देख हिमू ने सुमन को चुप रहने को कहा और काकी को तीन सौ के नोट पकड़ाकर कहने लगा—अगर कम पड़ें तो

कल शाम को और ले लेना। यह कहकर वह अपने कमरे की ओर चल पड़ा। पीछे-पीछे सुमन भी चली गई। इस छोटी-सी, परन्तु गंभीर घटना से काकी का रोम-रोम हा..हा कार कर उठा। अगली-पिछली बातें याद करके वह अपने कमरे में जाकर बिलख-बिलख कर रोने लगी।

इस घटना के बाद घर में लोग एक दूसरे से बहुत कम बोलते। सब सदा अपने-अपने विचारों में डूबे रहते। काकी की आंखों में आंसू देखकर सुधी मन ही मन तड़प जाता, परन्तु कुछ कर नहीं पाता। भाभी की रंगत देखकर उसने एक दिन जिद् पकड़ ली कि वह अपनी सगाई तोड़ देगा और जीवन भर विवाह नहीं करेगा। काकी ने बहुत समझाया, परन्तु वह न माना। काकी ने रमा को ससुराल से बुला भेजा। रमा ने भी आकर बहुत-बहुत समझाया, परन्तु वह मानता कैसे....उसे तो 'वहू' नाम की नारी से घोर घृणा हो गयी थी। हार कर सगाई तोड़नी पड़ी। सुधी की ससुराल वालों को वहुत बुरा लगा। लड़की का तो हाल ऐसा हुआ जैसा कोई सांप डस गया हो, परन्तु लड़कीवालों की स्थिति ही ऐसी होती है कि वह चुप रहने के सिवाय कुछ कर नहीं सकते।

रमा कुछ दिन रहकर काकी को जितना समझा सकी समझा कर ससुराल चली गई। वह चाहती थी कि अपनी छोटी बहन क्षमा को अपने साथ ले जाय, परन्तु भाभी बीच में पड़ गई और उसे न जाने दिया। क्षमा को बहुत बुरा लगा। पिता की याद करके बहुत रोई, परन्तु करती क्या? अपने भाग्य को कोस कर चुप हो गई। काकी भी रसोई में बैठी चुपचाप खाना पकाती जा रही थी और रोती जा रही थी। आज अगर उस पर दो छोटे बच्चों की जिम्मेदारी न होती, तो वह घर छोड़कर निश्चय ही किसी आश्रम में चली जाती।

घर में बहुत तनाव देखकर सुमन ने काश्मीर जाने की जिद की। हिमू जिद की लपेट में आकर उसे काश्मीर ले गया। गये पन्द्रह दिन के लिये थे, परन्तु महीने भर बाद लौटे। वापसी पर सबको खुश करने के लिये अपने साथ छोटी-छोटी चीजें लेते आये। काकी के लिये सफेद टैबी साड़ी, रमा के लिये रंगीन साड़ी, क्षमा के लिये एक दुपट्टा, सुधी के लिये काश्मीरी जैकेट और अपने एवं सुमन के लिये प्रायः हजार रुपये का सामान यह सब देखकर काकी ने कहा—'इतने पैसे क्यों खर्च किए तुम लोगों ने। हिमू बोला, जो चीजें तुम लोगों के लिये लाया हूँ वह तो मैंने खरीदी हैं, परन्तु बाकी चीजें अपने पैसों से सुमन लाई है। यह सुनकर काकी सब समझ बूझ कर चुप हो गई। उसे हिमू का यह झूठ बोलना बहुत बुरा लगा। काकी का बदला हुआ रुख देखकर घर में फिर वही पुरानी चुप्पी छा गई। इसी प्रकार की चुप्पी में दिन कटे जा रहे थे। घर में सबके मन में तूफान के समान विचार उठते और बैठते थे, परन्तु ऊपर से देखने में सब चुप थे। जब कभी कोई चुप्पी तोड़ने का प्रयत्न भी करता तो कुछ अजीब सा लगता। विधि का विधान। जहाँ सदा हँसी की 'खिल खिल' के बिना एक पल भी नहीं कटता था, वहाँ अब लोग जैसे हंसना भूल गये थे।

एक दिन सुबह से शाम तक इधर-उधर घूमने के बाद सुमन घर आई। हिमू हिसाब लेने दूकान चला गया। सुमन आराम करने के लिये लेट गई, क्योंकि उसे फिर तैयार होकर क्लब जाना था। वहीं लेटे-लेटे उसने क्षमा को आवाज लगाई। क्षमा दौड़ी चली आई। क्षमा को देखते ही सुमन बोली, मैं बहुत थकी हूँ, जरा मेरे पैर दबा दे। सुनकर क्षमा को जैसे काठ मार गया हो। सुमन कभी ऐसी भी आज्ञा दे सकती है, इसकी उसे स्वप्न

में भी आशा न थी। वह कुछ क्षण तो चुप खड़ी रही, फिर बोली, मैं किसी के पैर नहीं दबाती। उत्तर सुनकर सुमन की देह में जैसे आग लग गई। बोली, क्षमा कान खोल कर सुन ले। जब तक मैं तुम लोगों को इस घर में रहने दूँगी तभी तक तुम यहाँ रह सकती हो। जितना मैं तेरी शादी में देना चाहूँगी उतना ही तुझे मिलेगा। मुझसे दुश्मनी करने में तेरा कोई फायदा नहीं। समझ लिया ? जा, अब टल मेरे आगे से।

यह घटना क्षमा ने काकी को बतायी। सुनकर काकी की जो दशा हुई होगी, उसका अनुमान लगाना कुछ कठिन नहीं है। उसे अपना और क्षमा एवं सुधी का भविष्य अन्धकारमय लगने लगा। पति की सब संपत्ति हिमू के नाम कर जाना अब उसे खलने लगा। दोनों खूब रोई....रो धोकर काकी पूजा करने चली गई। सुधी जब घर आया तो क्षमा ने उसे भी वह घटना सुनाई। सुधी सब कुछ सुनकर चुपचाप अपने कमरे में चला गया। उस शाम को तीनों ने खाना नहीं खाया। तीनों के हृदय से एक हाहाकार उठ रहा था। सुधी की तो इच्छा हुई कि वह घर से भाग ही जाय, परन्तु काकी और क्षमा के प्रति कर्तव्य-भावना ने उसे रोक रखा। परन्तु हिमू और सुमन क्लब जाकर वहाँ के राग-रंग में घुल-मिल गये।

इसी प्रकार की कई घटनाओं के कारण घर के निवासियों के बीच खाई बढ़ती गई। हिमू के विवाह की वर्षगांठ आ गयी। सुमन की गोद में एक नन्हा सा शिशु भी आ गया था। परन्तु घर में उस दिन प्रसन्नता का लेशमात्र भी न था। घर का यह वातावरण देखकर सुमन छठी नहाकर ही अपने मायके चली गई और महीने भर तक वहीं रही। इन दिनों हिमू भी सुबह पाँच बजे घर से निकलता तो शाम को दूकान से हिसाब लेने के वक्त ही लौटता। फिर गायब होता तो रात के ग्यारह-बारह बजे

लौटता। महीने भर बाद हिमू ने अपने खर्च से सुमन को उसके माता-पिता सहित नैनीताल भेज दिया। सुमन ने गर्मियाँ वहीं काटीं। हिमू ने भी वहाँ का एक चक्कर लगाया। जिन दिनों सुमन नैनीताल थी, हिमू दूकान पर कुछ ज्यादा बैठने लगा, और बैठा बैठा सुधी के प्रत्येक काम को जाँचता रहता। "तेरा बठने का तरीका गलत है, "ग्राहकों से बोलने का ढंग गलत है, "अपने दोस्तों को दूकान में बुलाना गलत है, "संक्षेप में सुधी जो भी करता गलत था। दूकान के कार्यकर्ताओं में एक पुराना सेल्स मैन था, जो पिता के समय से चला आ रहा था। हिमू ने उससे कहा, क्या करूँ, सुधी भाई है, नहीं तो कान पकड़कर दूकान से निकाल देता। बूढा यह सुनकर बोला, "हिमू बाबू सुधी धीरे-धीरे सब सीख जायगा। आपने भी तो काम मुझसे ही सीखा था। मेरी समझ में सुधी ने बहुत जल्दी बहुत कुछ सीख लिया है।"

इसी प्रकार की निरन्तर टोका टाकी से परेशान होकर सुधी घर से भाग गया। हिमू के मुहल्ले में हाय तोबा मच उठी। काकी पागल सी हो गई। सब प्रकार की कोशिशें की गईं, परन्तु सुधी का पता न लगा। हिमू और सुमन की करतूतें सबको मालूम हो गयीं। सब थू-थू करने लगे। सुमन को तार से नैनीताल से बुलाया गया। सुमन आई, परन्तु कोसती हुई मन में प्रसन्न होती हुई, क्योंकि अब घर की पूरी पूँजी के अधिकारी थे उसके पति। सुमन के लौटने के महीने भर बाद उसके मुन्ने को बुखार चढ़ा और दो दिन बाद वह चल बसा। पास-पड़ोस की महि-लायें सुमन से मिलने आईं। सबने यही कहा, बहू, तुम काकी को दुख देना बन्द कर दो। तभी तेरे घर में भी सुख की बेल फलने-फूलने लगेगी। "कोई कहता," बहू जब तक काकी के आँखों में आँसू हैं तब तक तुझे सुख नहीं मिल सकता।" इस प्रकार की

बातें सुनकर सुमन को यह समझ में नहीं आ रहा था कि उसने कब और कैसे काकी को दुख दिया है। अपनी समझ में तो वह किसी को दुख दे ही नहीं सकती। बहुत सोचने-विचारने पर भी उसकी समझ में कुछ नहीं आया। हारकर वह काकी के पास गई। काकी ने उसके सामने अपना हृदय खोलकर रख दिया। अब सुमन की समझ में आया कि अपने बच्चे को खोकर उसे जितना दुख हुआ उतना ही सुधी के जाने से तथा उसके पति के बदले हुए व्यवहार से काकी को भी दुख हुआ होगा। शाम को जब हिमू घर आया तो सुमन ने उससे सुधी को ढूंढ़ निकालने की जिद की। हिमू ने अखबार में विज्ञापन निकलवाया कि सुधी तुरन्त लौट आए, काकी शख्त बीमार हैं। तुमसे मिलना चाहती हैं। "दूसरे दिन शाम को सुधी दबे पाँव घर आ गया। फटे हाल वह ऐसा लग रहा था जैसे वर्षों से बीमार अथवा जेल में हो। काकी उसे गले लगाकर फूट-फूट कर रोई। फिर घर में खुशी के बादल छा गये। सुमन ने सुधी के नहाने का इन्तजाम किया। अपने हाथों से उसे खाना पकाकर खिलाया। उस दिन से घर की वह चुप्पी फिर प्रसन्नता में बदल गई। चार महीने बाद सुधी का विवाह भी हो गया। क्षमा के लिये लड़का ढूंढ़ा जाने लगा।

घर का यह बदला हाल देखकर काकी खुश थीं, परन्तु अब तक जो हो चुका था उसका प्रभाव उसके मन में गहरा गढ़ गया था। वह घर से जाकर किसी आश्रम में रहना चाहती थीं, परन्तु सुधी उसे रोकता रहता था। इस प्रकार चाहे ऊपर से सब हँसते-बोलते थे, पर मन में सबके दरारें पड़ चुकी थीं। संभवतः जब हिमू और सुधी के बच्चे फिर से "क" से कबूतर, 'ख' से खरगोश, "ग" से गधा और "घर" से घर आदि काकी से पढ़ने लगेंगे, तभी यह दरारें भी लुप्त हो जायेंगी।

आल इन्डिया रेडियो स्टेशन, नागपुर।

सुअर के बच्चे

(श्री जयसिंह)

भादों के बरसात की पड़ पड़ जब दूर चली गई तब कुँडरी को यह पता चला कि उसके मक्का के बाड़े में कोई रेंग रहा है। मेड़ पर हल्के पंजो से उठते हुए उसने फूस के छितरे हुए छज्जे से बाहर अपनी मुंडी निकाली, पर आंखों के आगे छाई हुई धुन्ध और काली मक्खियों की भिनभिनाहट में तुरन्त न तो उसे कुछ दिखाई ही दिया, न कुछ सुन ही सकी।

अब बाड़े से छप-छप की आवाज आने लगी और उसे हिलते हुए टट्टों को देखकर यह समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई कि शायद कोई ब्याने वाली गाय बाड़े में गिर कर ठान की ओर जा रही है या चामटों की गधी खूँटी उखाड़कर घुस आई है या कोई सरकारी तरकड़ा (सिपाही) रास्ता बदल कर चुपके से टापरों में दाखिल हो जाना चाहता है।

सिपाही का ख्याल आते ही वह काँप उठी। जंगल काटने पर रोक लगने के बाद आये दिन सिपाहियों की टोलियाँ खुजलिए कुत्तों की तरह घर-घर के दरवाजे सूंधा करती थीं और चिल्पा भर लकड़ी का टुकड़ा देखकर बुरी और भद्दी गालियां बकते हुये खाल उधेड़ कर उसमें नमक मिर्च भरने तक की बात कह जाती थी।

कुंडरी बाड़े में होने वाली सरसराहट पर गोफन से पत्थर

चलाने ही वाली थी कि इसे किसी की काली मुंडी नजर आ गई।

वह उसका ससुर भीमा था, जो कीचड़ में लथपथ, फिसलता, रुकता रेंगता हुआ चला आ रहा था। वह हमेशा की तरह न तो खांसा ही और न खंखारा ही।

उसके पास आते ही कुइरी ने अपने चढ़े हुये पेजनों को ठीक किया; घूंघट काढ़ा और नीचे उतरने लगी। वह समझ गई कि उसका ससुर बेमतलब से ढोरों की ग्वाली छोड़ कर घर नहीं आया है।

बूढ़ा भीमा न जाने क्या-क्या बड़बड़ा रहा था। वह बच्चे की तरह मुँह बनाकर पोपले ओठों से थूक रहा था। उसकी सांस का सुंसवाटा भी हमेशा से तेज था और वह कह रहा था बस—अब घर आ गया। थोड़ी देर और थमों; मेरे हीरा के आते ही सालों की चटनी करता हूँ। वाह! पट्ठों में बड़ा जोर है। मेरे बेटों ने पीठ छील दी! चलो-चलो अभी हाथ साफ करता हूँ।

और वह धीरे-धीरे बड़बड़ाया--आज सबेरे मुंह में मक्खी यों ही नहीं घुसी थी। इसे कहते हैं किस्मत!

कुंइरी सुनासुनकर हँस रही थी। मरी हुई मछलियों और भुने हुये गोश्त के साथ कोई बात-चीत नहीं की जा सकती। आज अवश्य ही उसके पास कोई जिंदा जान वाली चीज थी। वह भांप गई। अवश्य ही उसकी चादर के बटके में बकरी या हिरन का बच्चा था।

बूढ़ा जोरों से चिल्लाया—'बहू जरा मेरे साथ टापरे पर चलो यहां कोई टोकरा भी नहीं होगा। और यह हरामजादे बगैर टोकरे के बन्द नहीं होंगे! और! इस बुढ़ापे में भी आज कितना भागना पड़ा; हड्डी-हड्डी फूल आई।'

कुंइरी खूब समझती है और पेट चिपकाना या कूदना और सूखे खालड़े को पसीने से तर कर देना बूढ़े आदमियों के लिये जल्दी से रोटी और कभी-कभी थोड़ी शराब पा जाने की अच्छी चाल थी।

बूढ़ा भीमा अपनी बहू के साथ जब टापरों के बीचों-बीच पहुँचा तो उसके आस पास खासा अच्छा मजमा जमा होगया बच्चे किलकारी लगाकर अपने नंगे बदन को हवा में तलवार की तरह घुमाने लगे। बहुएँ अपने घूंघट में सुसक-सुसक करने लगीं और बूढ़ों की डाढ़े पानी छोड़ने लगीं। बूढ़ी औरतें कह रही थीं हायरे हाय! ये तो सुअर के बच्चे हैं अरे पकड़ कैसे लिये? भूंदण (सुअरनी) ने किसी को चीर-फाड़ तो नहीं दिया? ओहो-ओहो! असली सूअर के बच्चे हैं! देखो इन उजाड़ियों के सिर पर सफेद धब्बे भी हैं और पूँछ क्या है सुई की नोक!

बूढ़ा भीमा अपने गरूर में इतना अकड़ गया था कि वह किसी की बात का जवाब नहीं दे रहा था। वह तो यही देख रहा था —चलो कुल जमा छोटे बड़े आठ जीव तो टापरे में हैं ही सहीं। बित्तेभर टुकड़े से सबके पेट भर जायेंगे...............और उसका मन पाताल तक नजर फाड़-फाड़कर देखने लगा था, उसके लिये कोई शराब की बोतल और गरम गरम रोटियां ला रहा है और खाने के लिये खुशामद की जा रही है। पर वह नहीं खा रहा है। दूर-दूर के लोग उसे दाद दे रहे हैं—वाहरे मेरे शेर! किस खूबी और करामात से इन बच्चों को अपने वश में किया है! और जब उसने सचमुच आंखें खोलीं, तो उसके टापरे से धुआं ही नदारद था। शायद आज चूल्हा ही नहीं जला और कुंइरी गुमसुम खड़ी थी। उसने पिछली दो रातें अपने छोटे देवर द्वारा लाई हुई छोटी २ मछलियाँ और केकड़े खाकर तथा उसी के साथ मेड़ पर सोकर बिताई थी। दिन में बाड़े के फूट खाकर पेट में

पानी भर लेती थी। अपने बाप के घर का पलापुसा वह अल्हड़ बचपन धरती और आकाश के स्वछंद वितान को छोड़ कर अपने आप में एक बिन्दु मात्र में केन्द्रित हो गया था और यह भरपूर तारों से भरी हुई रात की तरह जवानी थी, जिसे लेकर अब वह थकने, हारने और दुःख-दरद में मन का छोटा करने की कल्पना भी नहीं कर सकती थी।

कुंइरी का खाविन्द हीरा जो अभी-अभी पर गाँव से लौटा था, और जो कहीं से भी दो सेर कोदो पाने में असमर्थ रहा था, ललचाई हुई आंखों से सुअर के बच्चों की ओर देख रहा था कि अच्छे मौके से शिकार हाथ लगा। उसने अपने बाप भीमा को चिलम भर कर देते हुये कहा—मालवे के पठार से लेकर दूर गुजरात तक सभी लोग आधा पेट खाना खाकर दिन गुजार रहे हैं। लोग कहते हैं, जमाना बदल गया है, और वे फिर मन ही मन सोचते हैं — एक भुक्कड़ सरकार की जगह दूसरी भुक्कड़ सरकार आ गई, जिसने लोगों को दिन में तारे दिखा दिये और बेचारों की पेट की आंत मुंह तक आ गई।' हीरा की बात सभी लोग लुगाई सुन रहे थे, पर किसी की खोपड़ी के कीड़ों ने अपने कान के पर्दे खोलने का यत्न नहीं किया।

बूढ़ा भीमा जो सुअर के बच्चों से अलग कुछ भी नहीं सोच सकता था, अपने सूखे हाथों को हवा में तोलते हुए बोला, कम नहीं है! मालवे के पक्के तौल के दो-दो सेर से अधिक ही होंगे।....और वह मुँह हिलाकर यह महसूस करने लगा कि तप के अंगारों पर सेका हुआ गोश्त चबाने में उसकी कोचरी डाढ़ों को कितनी मेहनत करनी पड़ेगी और जवानों के जबड़ों की तरह अपने जबड़े हिलाकर बराबर का हिस्सा तेजी से खा सकेगा या नहीं!

उसने टोकरे के बीच दबे हुए सुअर के बच्चों पर मनभरी दृष्टि

डालते हुए तथा अपनी कमर से देसी छुरी निकाल कर उसे अपनी हथेली पर धार देते हुए कहा : मैंने लम्बा जमाना देखा है ! कई राजा पैदा हुए और मर गये और यह पृथ्वी न जाने किस-किस के हाथों में गई पर किसी ने जंगल काटने पर रोक नहीं लगाई और अब अच्छे करमकल्लों की सरकार बनी है, चूल्हा टेक्स, खूंटा टेक्स, बागड़ टेक्स, खाट, छप्पर, डंडे और कुल्हाड़ा टेक्स। मेरा बस चले तो मैं गांव २ में जाकर यह कहूँ कि उठो मेरे ज्वानों; संभालो कुल्हाड़े और जो टेक्स मांगने आये, उसका खोपड़ा तोड़ दो। और यह सरकार है, किस बला का नाम।'

हीरा ने कुंइरी को अलाव के लिये लकड़ी लाने के लिये कहा और बोला—'यों समझो चोकीदार से लो, फिर पटवारी, जंगलात के हिपाही, आबकारी का इन्सपेक्टर पुलिस के तरकड़े ठाकुर ठीकरे और सेठ साहूकार, उजले झक्क कपड़े वाले शहराती और वर्दीधारी पट्टे वाली बन्दूकों की फौज पल्टन यह सब मिलाकर सरकार है, आजकल इसी को सरकार कहते हैं।'

सुनते ही बूढ़े की बांछे खिल उठीं। उसने अपने सारे बदन को झकझोरते हुये कहा : 'यह नहीं चल सकता कभी नहीं चल सकता।

उसने पास खड़ी हुई औरतों पर अपनी बातों का प्रभाव देखने के लिये गर्दन उठाई और आक्रोप के साथ पुनः झुकाली।

हीरा की मेट के नीचे इकट्ठे होने वाले कई लोग किसी अदृश्य चीज को गाली देकर अपने मन की भड़ांस निकाल रहे थे। किसी ने कहा : 'उठाओ बन्दूकें और हमला बोल दो। घर छोड़ जंगलों में भाग चलो।'

बूढ़ा भीमा के लिये जवानों की बातों में अब अधिक रस नहीं रह गया; हालांकि वह भी जवानों से एक कदम भी पीछे

नहीं था, पर अब भूख क कारण उसकी आंते कुड़मुड़ा कर इस कदर तन गई थीं कि वह एक क्षण के लिये भी सुअर के बच्चों को अपने मन से अलग नहीं कर सकता था। अपने कुनबे को छोड़कर दूसरे लोग जब खिसकने लगे तो बूढ़ा भीमा खिसक कर टोकरे के पास आ गया। हीरा अलाव में आग तेज करने लगा और कुंइरी मिट्टी की हंडिया धोने लगी।

इसी बीच गांव का गमेती (सरगना) वदापा जिसके गले में चाँदी की हसली पड़ी हुई थी और जिसके घर में दो-दो भैंसें दूध देती थीं और जिसने एक ब्याही औरत होते हुए भी एक जवान विधवा से नातरा कर लिया था। हाथ में छोटी कुल्हाड़ी का हत्था घुमाते हुए आ पहुँचा।

बूढ़े भीमा को वदापा का आना तनिक भी नहीं भाया। हीरा को लगा जैसे जहाँ खड़ा था वहीं पैर पड़ गया। क्योंकि वह वदापा को अव्वल दर्जे का चुगलखोरऔर लप्पर चट्टा चुगद आदमी समझता था। ठाकुर के लिये लड़कियाँ उठाने से लगाकर घरों में सेंध लगवाने तक के सारे धन्धे यह करता था, और खूब मौज में रहता था। लेकिन यह सोचकर वह चुप हो गया कि आया है तो आने दो बित्ताभर टुकड़ा यह भी खा लेगा और उसने आवाज को चिकनाकर और घिघाहट से भरकर कहा—आओ वदापा भाई।

वदापा ने अजनवी कुत्ते की तरह चारों ओर देखते हुये कि मेरी टेढ़ी दुम भीमेरे साथ है या नहीं, बोला:—मैंने सुना है कि असली नामी सुअर के बच्चे तुमने पकड़े हैं ?

—यह दादा भीमा की हिकमत है। सुअर के बच्चे कहीं हाथ पड़ते हैं, घोड़े पीछे दे दो तब भी हाथ नहीं आते। चलो तुम आ गये, अच्छा हुआ, तुम भी थोड़ा खा लेना।

वदापा बिलकुल गंभीर बना रहा और बहुत धीरे धीरे डराने वाले शब्दों में बोला:—तुमने तो गजब कर दिया। आजकल जंगल में जाना तक मना है और तुमने बच्चे पकड़ लिये ? मेरी तो जान घबड़ाने लगी है। गाँव पर जल्दी ही कोई आफत आ सकती है, और उसने इस तरह सांस खींची जैसे किसी ने उसके बाप के मरने की खबर सुना दी है।

बूढ़ा भीमा भी यह सारा नाटक देखकर घबरा गया और बोला : 'गाँव का आदमी तो कोई चुगली खायेगा नहीं और यहाँ तो चट मुर्गी पट दाल, राम नाम लेने का इतना वक्त भी तो नहीं लगेगा और यह बच्चे पेट में पहुँच जायेंगे।

वदापा टोकरे के पास आकर बोला:—देखू जरा बच्चे।

वाह ! वाह बच्चे क्या हैं। चर्बी के टुकड़े हैं। मालूम होता है भूंदण ने इन्हें खूब दूध पिलाया। यह तो ठाकुर को भेंट करने लायक है। वाह ! क्या कमाल के बच्चे हैं।…और वह गला साफ करने लगा—मेरी सलाह मानों तो इन्हें मारो मत इनसे न तो पेट ही भरेगा और न खाने का मजा ही अवेगा। और खा भी गये तो एक न एक दिन छः महीने में छः बरस में भी बात फूटेगी और तुम्हें जुर्माना न सही, सजा ही भुगतनी पड़े। समझे, यह कानून का जमाना है ? अब एक ही बात है। एक पंथ दो काज। ठाकुर को बच्चे भेंट कर दो और अच्छा इनाम पाओ ! मैं कहता हूँ यह बच्चे तुम्हारा घर भर देंगे, घर।'

सुनते ही बूढ़ा भीमा चौंक उठा : क्या कहा, घर भर देंगे ? ही-ही-ही-ही वह जमाना और वह पानी तो मुल्तान गया। इस तरह बच्चे पकड़नेवालों की बहादुरी पर कभी इनाम-इकराम मिला करते हों। यह लुटेरों का जमाना है, लूटो और खाओ। हां जोगियों और डेरा डंडा लिये घूमनेवालों की बात छोड़ दो, जो अच्छे नस्ल के कुत्तों बेंच कर चाँदी कमाते हैं और अब तो

वह जमाना भी नहीं रहा। पहाड़ी नस्ल के कुत्ते और मालवे की कुतिया के संयोग से भी वे ही गंडक पिल्ले पैदा होते हैं, जो घर के न घाट के।'

कुंइरी जो अब तक सारी बात ध्यान से सुन रही थी, बोली जब वदापा मामा कहते हैं तो इन बच्चों को अवश्य ही ठाकुर के भेंट कर देना चाहिए।

वदापा ने अपने सारे पेंच लगाकर भीमा और हीरा को सुअर के बच्चे ठाकुर को भेंट करने के लिये तैयार कर दिया।

भीमा जिसके पेट में भूख आकाश-पाताल नाच चुकी थी, अब थोड़ी देर के लिये थम गई।

भीमा और हीरा दोनों बाप-बेटे जब पहाड़ की चढ़ाई पार कर पठार के खेतों में आये तो सूरज काफी चढ़ चुका था। जुआर के खेतों पर उड़ती पठार की खुली हवा ने दोनों के पसीने से भरे हुए चेहरों पर जैसे ठण्डे पानी के छींटे डाल दिये। खेतों के बीच से गुजरने वाली सुबुक पगडंडी और कांकड़ के बीच की गाड़ी-गरघट पर दोनों एक के पीछे एक बढ़ते चले जा रहे थे। सामने ही कस्बे की बस्ती में बड़े रावले की गढ़ी बकरियों के रेवड़ में ऊँट की तरह लगती थी। एक किनारे पर छोटे रावले के पतरे भी नजर आ रहे थे।

हीरा ने जिसने टोकरा उठा रखा था, अपना कंधा बदलते हुए कहा—"क्यों दादा ? छोटे रावले में चलें या बड़े रावले में !"

भीमा ने गर्दन झटकते हुए जवाब दिया—'छोटे रावले में क्या रखा है। दुनिया भर के चट्टे आदमी, उन्होंने तो बस ढोरों के नाम की घास छोड़ रखी है। वह देगा भी क्या अपना करम ?

"हीरा ने बात पलट दी : टोकरे में बच्चे ऐसे सोये हैं, जैसे अपनी माँ से लगे किसी खाई में सो रहे हैं। और तुम्हें मालूम है, ठाकुर इन बच्चों को क्या करेगा ?"

—क्या करेगा। सूले (कवाब) बनाकर चटनी कर जावेगा!

—नहीं! आजकल वह भी चाँदी झाड़ने में लगा है। वह बच्चों को पिंजरे में डालकर बढ़ने देगा और फिर या तो किसी अफसर को बड़ी दावत खिलावेगा और वह अफसर भी पुलिस वाला ही कोई होगा जिससे मिलकर दस बीस नकब और दो चार डाके डलवायेगा।

भीमा ने किसी पुरानी बात को याद कर लम्बी साँस खींची और बोला—"मैंने एक से एक दुधारू भैंस ठाकुर को दी। उसने मुझसे कोई पचास नकब लगवाये और सारा चाँदी, सोना हजम कर गया और फिर भी पेट नहीं भरा। बस जब कभी सामने आया तो हाय-हाय के सिवा कुछ नहीं।"

यह चले ही जा रहे थे कि सामने से बैल की पीठ पर बैठा हुआ एक बनिया आता हुआ नजर आया। एक गमछे से उसने अपने कान पोत रखे थे। इन्हें टोकरा लिये देखते ही वह बैल की पीठ से नीचे कूद पड़ा और उसे पास के जुवार के खेत में चरने छोड़ दिया।

'गमेती राम-राम? क्या लिये जा रहे हो चुपके-चुपके! बनिये ने खुशामद भरे शब्दों में पूछा।'

—कुछ नहीं है सेठ, यह तुम्हारे काम की चीज नहीं है!

देखूँ-देखूँ! अवश्य ही तुम चंवला, घी या शहद लिये जा रहे हो, और मना करने पर भी उसने जबरदस्ती टोकरे में हाथ डाल दिया! लेकिन दूसरे ही क्षण उसने इस झटके से हाथ खींचा, जैसे उसे साँप ने फन मार दिया है।

'हीरा ने मुस्कराकर कहा—डरो मत, सुअर के बच्चे हैं काटेंगे नहीं।'

बनिया हाथ झटकता हुआ तेश में आ गया— 'सुअर के बच्चे तुम हो या यह?' वह और भी गालियाँ देता, पर निर्जन

स्थान जान और यह' याद करके कि भील के कहाँ ढील यह दो चार रावे में रख देंगे, वह चुप हो गया। उसने अपने हाथ बैल की पूँछ से पोंछ कर पवित्र किये और यों कहते हुए कि "कायत, कूकड़ा और भील कभी किसी के नहीं," बैल की पीठ पर लद कर चला गया।

× × ×

छोटे रावले के पास कस्बे के नुक्कड़वाली कलाली पर दारू पीने वालों की खासी अच्छी भीड़ जमा थी। छोटे रावले का ठाकुर भी चबूतरे पर एक खाट डाले बैठा था और उसकी अगल-बगल में बैठे हुए सब उसी के काश्तकार और असामी लगते थ।

इन्हें देखते ही छोटा ठाकुर इस तरह उछल पड़ा, जैसे बच्चे लेकर इनके आने की बात उसे पहले से ही मालूम थी।

इतने आदमियों के सामने बगैर राम-राम किये या चिलम पिये टल जाने को कोई गुञ्जाइश न देखकर दोनों कलाली पर जा चढ़े।

छोटे ठाकुर से इन्होंने अपने आने का उद्देश्य बता दिया तो उसने कलाल को आधा बोतल ठर्रा (देशी शराब) लाने की आज्ञा दी और बोला : 'इस कमसल जमाने में हमारी कौन भेंट पूजा करे भाई ! थोड़े बहुत भील हैं बेचारे जो अब भी पुराना धर्म पाल रहे हैं। छोटे ठाकुर को दो या बड़े ठाकुर को—बात एक की एक है।'

उसने एक लौंडे को आवाज देते हुए कहा—'जा यह टोकरा घर के अन्दर ठण्डी जगह में दारू के ढोल के पास रख दे। गरमी में बेचारे बच्चे घबरा गये होंगे।'

आधी बोतल शराब भी आ गई। छोटे ठाकुर के इस व्य-वहार को देखकर हीरा और भीमा दोनों की छाती गज भर चौड़ी हो गई और व उसकी मन ही मन सराहना करने लगे।

हाथों का चाक बनाकर दो दो पल्टे में वे आधी बोतल पी गये

ठाकुर बोला : मैंने देखा इतने आसामी पी रहे हैं, तो तुम्हें भी क्यों न पिलाया जाय ! अब नहीं पहले तुम भी मेरे आसामी थे और वह उठकर एक ओर चला गया।

उसी लौंडे के साथ हीरा ने टोकरा मँगवाया और लेकर दोनों आगे बढ़े।

भीमा जिसे हल्की-सी सुर्खी आ गई थी, सारी पुरानी बातें और यहाँ तक अपनी भूख को भी भूल गया था। उसके ओठों पर मीठी मुस्कराहट थी:—चलो अच्छा शकुन हुआ।

हीरा ने बड़े रावले का फाटक पार करते हुए कहा—लगता है बच्चे भूखे हो गये हैं। टोकरा फूल की तरह हल्का लग रहा है।

ड्योढ़ियों के दालान में दमामनें किसी उत्सव के सिलसिले में नाच रही थी और उनकी घूमर इतनी फुर्तीली थी कि लँहगे बीच-बीच में तन कर छतरियाँ हो जाते थे और उनकी जाँघें और पिण्डलियाँ तड़क उठती थीं।

बड़े ठाकुर कचहरी में एक कुर्सी पर बैठे थे और उनके पैरों के पास लाल मुँह की एक बन्दरी हरकत कर रही थी। वह ठाकुर साहेब के रेशमी इजारबन्द का झब्बा खींच लेती थी और ठाकुर साहेब गुद-गुदी से चीख़ उठते थे।

भीमा और हीरा ने झुककर सलाम किया और टोकरा ठाकुर साहेब के पैरों के पास रख दिया।

भीमा जिसे हल्का नशा आ गया था, गिड़गिड़ाकर किसी ग़ुलाम दरोगे की बोली में बोला : मालिक, धणी, अन्नदाता एक छोटी सी भेंट कबूल करें !

हीरो को अपने बाप की यह याचना काँटे की तरह चुभी, पर यहाँ वह कुछ कह नहीं सकता था।

बूढ़े ने फिर शुरू किया : दो सुअर के बच्चे असली जात के हुजूर !

ठाकुर साहेब ने कड़ककर पूछा—'कहाँ से पकड़े हैं ?'

मालिक का ही जंगल है। मालिक के ही बच्चे हैं।

—अरे ओ ! हराम के पिल्लो और सुअर के बच्चो ? जंगल में घुसकर तुमने कानून तोड़ दिया ? आज तुम्हारी खाल उधेड़कर उसमें नमक-मिर्च भरूँगा, तब तुम्हारी ठोंजी हुई खोपड़ी पिघलेगी। अरे जंगल में घुसना मना है न ? और उन्होंने आवाज दी : अरे है कोई !

फौरन दो लौंडे जनानी चाल से चलते हुए सामने आए।

—टोकरे में से बच्चे निकाल कर पिंजरे में बन्द कर दो और इन दोनों बन्दर भीलों को पच्चीस-पच्चीस जूते लगाओ !

सुनते ही दोनों की सिट्टी गुम हो गई। भीमा थर-थर काँपने लगा, पर हीरा, जैसे वह मुकाबले के लिये खड़ा था। वह मन ही मन उस कमीने बुढ़ापे पर भी खीज रहा कि अगर वह अभी सामने आ जाये तो उसे चबा खाये। देखा भेंट लाने का मजा। उसकी आंखों में खून उतर आया था।

इस बीच ठाकुर ने अपने ही हाथ से टोकरे के ऊपर कसे हुए दूसरे टोकरे को खोलना शुरू किया और बोला : इन हरामजादों से पच्चीस-पच्चीस रुपये जुर्माना भी वसूल करो।

दोनों लौंडे अपने हाथ में बासवाड़ी जूते लिये हुए। भीमा और हीरा की ओर झपटे। बूढ़ा भीमा किसी रीछ की तरह हाहोला मचाता हुआ इस कदर हाथ घुमा रहा था कि जूते का प्रत्येक वार या तो लौंडे के घुटने पर लगता या खाली जाता।

ठाकुर ने ज्योंही टोकरा हटाया, तो उसमें से म्याऊँ की आवाज के साथ कोई चीज इस तरह उछली कि बदहवासी में वह कुर्सी का संतुलन खो बैठा और औंधा हो गया।

टोकरे से सुअर के बच्चे के बजाय एक बिल्ली निकली। देख हीरा ने तेजी से लपक कर उन लौंडों के ऐसी लात जमाई कि दोनों ने धूल चाट ली।

बूढ़ा भोमा भी भागने में किसी जवान से कम न था। दोनों ने अपने फँटे हाथ में लेकर ऐसी दुड़की लगाई कि बात की बात में जंगल का किनारा पकड़ लिया। वे रास्ता बदल कर थोड़े और आगे बढ़े और एक जगह ठण्ढी छाया में दम लेने के लिये रुक गये। भीमा ने कहा: कलाली पर छोटे ठाकुर ने दोनों बच्चे पार कर लिये और उस कमअसल ने खूब फरेब किया! खूब फरेब किया!!

सूरज ढल गया था और सैकड़ों वर्षों की ठाकुर को भेंट देने की परम्परा भी हमेशा के लिये आज ढल गई थी। पहाड़ी उतार से बाप-बेटा दोनों अपने झोपड़े की ओर बढ़ते चले जा रहे थे, जहाँ कुंदरी अब भी खाली हांडी लेकर बैठी थी और शायद बुढ़ापा के सिर पर उसकी कजा काले भंवरे की तरह चक्कर लगा रही थी।

३७, गौतम पुरा,
इन्दौर शहर

ग़लतफ़हमी

श्री विद्यासागर नौटियाल

देहरादून में बहुधा जब मेरे पास पैसे की कमी होती और मैं घर जाना चाहता तो मंसूरी के रास्ते से होकर, पैदल चलकर बहुत कम पैसे खर्च कर घर चला जाता था। देहरादून से चार आने का टिकट लेकर राजपुर तक बस द्वारा पहुँच जाता व वहाँ से पैदल ४० मील घर—टिहरी। यह ४० मील दो दिन में बखूबी पार हो जाते थे। पहाड़ी रास्ता है सीधा व सुन्दर।

देहरादून से परीक्षा देकर छुट्टियों में मैंने घर जाना चाहा, केवल पाँच रुपये बचे रह गये थे उस वक्त। कुछ दिन तो घर से पैसे की प्रतीक्षा की, किन्तु भूल की! जो कुछ शेष था भी वह भी खत्म हो पड़ा और तब एक दिन मेरे पास केवल एक रुपया छः आने बच रहे। सम्भवतः वह पैसे मैदानी इलाके के किसी छात्र के पास होते तो वह ट्रेन द्वारा तत्काल घर पहुँच जाने की उम्मीद रखता, किन्तु मेरी तो दशा ही दूसरी थी। बस से आठ रुपये के करीब लग जाते थे और पैदल जाने के लिए भी यह पैसे यथेष्ट नहीं थे।

आखिर जब एक रुपये छः आने बचे तो मैंने पैदल ही चलने का निश्चय किया। रात भर एक पिट्ठू (पीठ पर लगाया जाने वाला बड़ा थैला) व एक कांधा (कंधे पर लटकाये जानेवाला छोटा थैला) को ठीक करता रहा। बिस्तर बांधे, किताबें बांधी। देहरादून के मित्रों को, जिन्हें बिना सूचित किये जा रहा

था—पत्र लिख एक पड़ोसी मित्र को दे दिये वे सब पत्र बिना तनख्वाह का चिट्ठीरसा बन गया था वह बेचारा।

रात के ग्यारह बज गये। तब मुझे ध्यान आया कि अपने मार्ग की खुराक डबल रोटी भी खरीदनी है। आठ आने में एक डबल रोटी मिल जाती थी। उससे रास्ते में खाने की बचत हो जाती। सड़क के किनारे धारा (नाला) से पानी पिया व डबल रोटी चबाई बस भूख रुक जाती थी। भूने चने पर मेरा विश्वास नहीं भले ही डबल रोटी की तुलना में आठ आने का चना अधिक आ सकता है, पर चना चना है और डबल रोटी डबल रोटी—

मैंने तुरन्त किवाड़ बन्द किए व दौड़कर शहर पहुँचा। डबल रोटी की सब दुकाने बन्द हो गई थीं—पल्टन बाजार में। 'काश्मीरा' में गया डबल रोटी थी नहीं, देहरादून के ख्यातिप्राप्त 'क्वालिटी' में गया रोठी नहीं थी, तब मैं हिम्मत कर रात के वक्त 'इंडियाना' घुस गया, एक डबल रोटी के लिए। दिन में मैं कभी भी वहाँ नहीं गया था, न हिम्मत ही कर सका था कभी। शहर भर के सुपुरुष अमीर सभी वहाँ जाते थे। सुना था कि बैरा वहाँ एक समय की सर्विस के लिये एक रुपया ले लेता है। रोज़ जब मैं पैदल ही राजपुर रोड पर राजपुर की ओर टहलता रहता तो 'इंडियाना' को बाहर से देख लेता। अन्दर सारा हाल भरा मालूम होता—पुरुषों से ही नहीं, ललनाओं से भी। प्रसन्न मुद्रायें दिखाई देतीं—काँच के दरवाजों से।

इस वक्त रात थी। मैं आज भी न जाता, पर मजबूरी थी। खर मैं गया तो काउन्टर पर खड़ा हो गया। मुँह का थूक जम गया था मेरा व पैर संभाल-संभाल कर रख रहा था मानो आग की लपटों में झुलसने का भय हो। तब तक बैरा ने आकर मुझसे पूछा—"क्या चाहिए ?" 'एक ब्रेड' मैंने रुके हुए स्वर से उत्तर दिया। मैंने नाइट ड्रेस का पायजामा व एक गंदी सी

कमीज पहन रखी थी। बैरा रोटी लेकर आया "इसकी सलाइस काट दो" मैंने कहा—

"कौन साब के लिये चाहिए" मैनेजर ने आकर पूछा। मुझसे यह प्रश्न बर्दाश्त न किया जा सका। आखिर जब मैं पैसे देकर रोटी ले जा रहा था तो चाहे मैं किसी के लिए ले जाऊँ, इससे क्या प्रयोजन? और फिर क्या यह मुझे नौकर समझ बैठा है?

'खुद साब के लिए' मैंने उत्तर दिया—

'देखो जुबान सम्हाल कर बात करो' मैनेजर ने एक मामूली नौकर के मुँह से 'खुद साब' सुनकर गुस्से से भरकर कहा—

मेरा खून खौल उठा। 'होल्ड योर टंग यू·······यू ब्लडी···· ह्वाट डू यू थिंक योरस्यल्फ टुबी' मैंने उत्तर दिया—

मैनेजर के मुंह पर ताला पड़ गया था वस्तु-स्थिति समझकर मैंने फिर गर्म होकर कहा—

'हैड यू टेकन मी टुबी एनी सर्वेंट ?'

वह बोला—माफ करिये, गलतफहमी हो गई, बेग योर पार्डन।'

'डजन्ट मैटर' मैंने दिलेरी दिखाते हुए कहा। रोटी ली व कमरे में चल दिया। नींद तो नहीं आई पर हाँ कमरे में आकर लेट गया। दूसरे दिन सुबह तड़के पाँच बजे उठा, सामान को अन्तिम बार ठीक किया। हाथ-मुंह धोया, नहाया—सबसे पहली बस पकड़नी थी मुझे राजपुर के लिए। बाद में धूप हो जाती थी। पैदल चलने के लिए। आखिर रोडवेज के स्टेशन पर पहुँचा। टिकट लिया व बस पर चढ़ गया।

बस चलने लगी, पौने आठ बजे थे। मैं गवर्नमेन्ट रोडवेज की उस लम्बी मोटर पर ड्राइवर की ओर मुँह किये बैठा था। मेरी सीट पर केवल दो आदमी बैठ सकते थे। मैंने दूसरे आदमी

की जगह पर अपने दायें हाथ की ओर अपने पिट्ठू व कांधा रख दिये, कभी पिट्ठू गिरने लगता व कभी कांधा। जैसे तैसे थामता रहा तभी दिलराम बाजार में बस रुकी। दो लड़कियाँ बस पर आईं मेरे दायें हाथ की ओर एक बुड्ढा बैठा था जिसकी बायें हाथवाली एक सीट खाली थी। एक तो उस पर बैठ गई। मैं कांधा व पिट्ठू की ओर, जिनका भार मेरे ऊपर आनेवाला था, देख ही रहा था कि दूसरी लड़की ने आकर कांधा को उठाकर मेरी गोद में रख दिया। चट से मैंने पिट्ठू भी अपनी गोद में ले लिया। वह लड़की मेरी बगल में बैठ गई; भार बनकर। मेरे कांधा व पिट्ठू के स्थान को घेर कर बैठी थी वह जिन्हें कि मुझे अपनी गोद में रखना पड़ा था। बीस सेर सामान था कुल।

मेरी हालत खराब हो गई। दो दो झोले वे भी कांधा और पिट्ठू, बीस सेर वजन गोद में लेकर मोटर के धक्के भी बर्दाश्त करने पड़ रहे थे। कोई और होता तो शायद बीस की जगह चालीस सेर गोद में ले लेता। यदि एक कोमलाङ्गना बगल में बैठती किन्तु मुझे यह मंजूर नहीं था। अब उसने अपने बायें हाथ से मेरे घुटने को स्पर्श करना शुरू किया, वह मेरे और पास बैठ गई। बस से उसने मुझे ढकेल सा दिया। मेरे खून में गर्मी पैदा होने लगी। आखिर मैं सहन न कर सका। जोर से मैंने दायें हाथ से एक धक्का सा दिया। वह कुछ सहम सी गई, मुँह बिचकाकर उसने मेरी ओर देखा।

खैर बस रुक गई व राजपुर आ गया। मैं बाहर भागा। बाहर आकर मैंने पिट्ठू को पीठ पर लगाया व काँधा को कंधे पर। तब मैं चलने लगा।

अभी थोड़ी दूर भी न पहुँचा था कि एक आवाज़ सुनाई दी 'कहाँ जाना है आपको' मैंने रुककर पीछे की ओर देखा।

वही लड़कियाँ थीं। वे दोनों मेरे पास आईं तो मैंने उत्तर दिया—

'टिहरी।'

"मंसूरी होकर।"

"हाँ।"

"आप मंसूरी तक बस द्वारा चले जाते तो जल्दी पहुँच जाते"

"जी मेरी तबीयत खराब हो जाती है उस सड़क पर, फिर पदल भी तो बुरा नहीं है।"

"हाँ है तो ठीक ही।"

'हम भी चल रही हैं, चलिये साथ चलें।' मुझे यह प्रस्ताव भी अच्छा न लगा। मैं जानता था कि मैदानी लड़कियाँ मेरे बराबर न चल पायेंगी व मुझे देर हो जायगी अपने रात के निवास स्थान तक पहुँचने क लिए। यदि वहाँ तक न पहुँच पाता तो रहता कहाँ ?

लेकिन मैं इस प्रस्ताव का विरोध भी न कर सका। आख़िर ऐसा अवसर भी तो कम मिलता है। देर हो जायेगी तो क्या, कठिनाइयाँ तो सदा ही झेलनी पड़ती हैं। थोड़ा सा मनोरंजन ही सही। मैं उनके साथ चलने लगा। राजपुर से चले थे सवा आठ बजे। तीन मील की दूरी पर एक होटल है, जहाँ लोग अकसर चाय पीते हैं। इस होटल पर पहुँचते-पहुँचते हमें दस बज गये। रास्ते में उनसे मेरी कोई विशेष बात न हुई, सिवा इसके कि कौन हूँ, क्या हूँ। उनसे मैंने यही नहीं पूछा कि आप कौन हैं, क्या हैं। पूछता मैं अवश्य किन्तु, मुझे तो मेरी अपनी ही आनेवाली विपत्ति ने घेर लिया था।

जब होटल के पास आये तो मैंने एक बार अपने आपको जी भर कर कोसा उनके साथ चले आने के लिए। बिना पैसे के ऐसा ही होता है। आखिर होटल के पास ही आ पहुँचे तो

"बैठना है क्या ?" मैंने प्रश्न किया। "हाँ-हाँ, जरूर बैठना है", वे बोलीं। "अरे, आप लोग थक गई हैं, वर्ना मैं तो मंसूरी ही जाकर रुकता।"

वे थक तो सचमुच गई थीं, जैसा कि उनकी मुखमुद्रा और चाल से प्रतीत हो रहा था, किन्तु मेरा उत्तर व्यंग्य में था जिसे वे सहन न कर सकीं। मैंने जानबूझ कर यह उत्तर दिया था। बैठते तो चाय अवश्य पीते और तब मेरे पास पैसे तो थे नहीं देने को।

क्या उनको कहता—"दीजिये पैसे"।

मेरे वाक्य का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उस होटल से जिससे कोई भी पथिक बिना चाय पिये नहीं जाता, एक मैं व दो वे चले गये सामने से ही गुजर कर। होटलवाला चुप न रह सका—"बाबू चाय पीकर जाइये।" मेरा खून सूख गया। उन्हें बल मिला। "हाँ चाय पीकर चलें", एक ने कहा। लौट पड़ीं वे दोनों। मैं भी लौट आया। एक चाल फेल हो गई थी।

जब चाय पी रहे थे तो उनमें से एक ने कहा, "अरे आप तो सिगरेट तक नहीं पीते !" "नहीं, आदत ही नहीं है !" मैंने उत्तर दिया। सिगरेट पीता तो मैं था, पर पैसे नहीं थे। सिगरेट का नाम सुनकर मुझे याद आ गई और तेज याद लेकिन रहा चुप ही। दस आने तो मैंने झोले में बन्द कर रख दिये थे, ताकि खो न जायँ, खर्च न हो जायँ।

तब चाय खत्म हो गई। अपनी दशा का ज्ञान तो मुझे खूब था। चुपके से मैंने अपना पिटठू व कांधा उठाकर उनसे कहा, "आप आइये मैं आगे........" समझ गईं वे कि मेरा संकेत यह है कि मैं पेशाब करने जा रहा हूँ। आप थोड़ी देर में आ लीजिए। बिना सोचे ही उनके मुँह से निकल पड़ा 'ठीक है।"

मैं भी चल दिया। आगे एक मोड़ पर जाकर मैंने कांधा से

रोटी का एक टुकड़ा निकाल कर जल्दी-जल्दी चाब लिया। अभी-अभी चाय पी थी, अच्छा मौका था। उन दोनों ने पता नहीं क्या सोचा मेरे बारे में। पैसे तो उन्होंने ही दिये होंगे। शायद यह सोचा हो कि मैं पैसा देना भूल गया। "पैसे देते जाइये" वे कैसे कह सकती थीं। इतना 'असभ्य' तरीका कौन अपना सकता है।

थोड़ी देर बाद वे दोनों फिर मेरे साथ हो लीं। इस वक्त उन्होंने मुझसे कुछ ऐसी बातें करनी आरम्भ कीं जो कभी किसी लड़की ने नहीं की थीं। आप बैचलर हैं ? देहरादून कहाँ रहते हैं आप ? "आपके डैडी कहाँ रहते हैं ?"

समय बीतता जा रहा था। मुझे ऐसा लग रहा था कि किसी ने मुझे बाँध दिया हो। उनकी चाल बहुत मन्द थी। मैं कभी इतनी धीमी चाल नहीं चला था और फिर मुझे तो मंसूरी से २० मील और दूर जाना था उसी दिन। कद्दू-खाल पहुँचना था मुझे।

और बातें भी कीं उन्होंने। उन्हें शायद अफसोस हो रहा था मेरे चाय के पैसे दे का। कभी होता नहीं है ऐसा कि अपरिचितों में लड़कियाँ पैसे दें। होटल या कफे में भी पुरुष जाति स्त्री से कभी भी बिल का भुगतान नहीं करवा सकती। वह अपनी छड़ी चुपके से जाकर, बन्दक रख सकते हैं मैनेजर के हाथ-पाँव जोड़ सकते हैं, किन्तु कभी भी नारी जाति के सामने यह नहीं बता सकते कि उनके पास पैसा नहीं हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर ऐसी लड़कियाँ अपनी जेबों में पैसे नहीं रखतीं। उन्हें हरएक जगह पैसे ही पैसे मिल सकते हैं। बात तो दो आने कि थी, लेकिन हाँ इन दोनों को बहुत अखर गई थी। यहाँ तक कि यह इसे छः आने का मसला मानने लगी थीं याने अपने

चार आने भी जोड़ लिये थे उन्होंने। वे भी तो मुझे ही देने चाहिए थे।

मैं सब समझ रहा था, पर था खामोश। सहसा—एक ने मेरी ओर दाहिने हाथ का झोला बढ़ाते हुए कहा—ज़रा झोला पकड़िये तो हाथ खुजला लूं। मैंने झोला हाथ में ले लिया। वह अपने दाहिने हाथ की हथेली खुजलाने लगी। लेकिन कब तक खुजलाती ? मैं उसकी ओर टेढ़ी निगाह से देखता रहा, आखिर उसने हाथ खुजलाना बन्द कर दिया और दोनों हाथ हिलाते हुए चलने लगी। मैं चुप न रह सका। जल्दी में झोला उसकी ओर बढ़ाते हुए मैंने कहा—"लीजिये"। "ओह आइ ऐम सौरी" उसने बनावटी हँसी हँसते हुए कहा "मैं भूल गई थी मुआफ करिये'। 'जी मैं नहीं भूला था' मैंने जवाब दिया और हँसने लगा। थोड़ी देर तक वे दोनों हँसती रहीं, लेकिन उनके हँसने के तरीके से जाहिर था कि वे जबर्दस्ती हँस रही हैं, वर्ना इस वक्त तो उन्हें हँसने के बजाय रोना चाहिये था।

"आपका दाहिना हाथ क्यों खुजला रहा है ?" मैंने कहा, "लेडीज के दाहिने हाथ की खुजली से कुछ नुकसान होता है"।

'जी मैं इस पर विश्वास नहीं करती' उसने कहा। मैंने उत्तर दिया, विश्वास तो मैं भी नहीं करता, पर लोग ऐसा ही कहते हैं। शायद आपके कुछ पैसे वगैरह खो जायँ, लेडीज के बायें हाथ में अगर खुजली हो तो उन्हें पैसे मिलते और दाहिने में खुजली होने पर खो जाते हैं'।—

'देखिये क्या होता है' उसने धीमे स्वर में कहा।

किसी तरह बातें करते-करते मंसूरी पहुँचा। मंसूरी शहर में राजपुर से आगेवाले पैदल रास्ते को छोड़ते ही प्रिंस होटल मिलता है। होटल कहिये या रेस्ट्रां। उसी स्थान से मेरा रास्ता भी जुदा होना

था। मुझे दायें हाथ को मुड़ जाना था उडस्टौक की ओर व उनको बायें हाथ मुड़ना था चार्लीविल जाने के लिये।

मैंने विदाई लेनी चाही।

"उफ अभी तो इतना चलकर आये और अभी जाने लग रहे हैं आप, बैठते भी नहीं।" एक ने बन कर पूछा पता नहीं क्या नाम था उसका। मैंने तो नाम तक उसका न पूछा था डर ही डर में।

"यह भी क्या चलना हुआ" मैंने उत्तर दिया। मैं प्रिंस के पास पहुँच चुका था और पूरी तरह समझ गया था कि वे दोनों दो आने को दो रुपया बनाना चाहती हैं। काफी विरोध करने पर भी उन्होंने न छोड़ा। 'आइये आइये' कहकर प्रिंस में घुसने लगीं, दरवाजा खोलकर एक ने थोड़ी लम्बी आवाज में कहा, बाहर की ओर मुँह करके "अभी चले जाइये न"।

मशीन के पुर्जे की तरह मैं अन्दर चल दिया। तब बैरा आया चाय आई, कुछ नमकीन डिसें आईं, कुछ और भी आया तब मैंने धैर्य कर लिया और निश्चित होकर खा गया। काफी देर तक बैठे रहे। एक बज गया। सवा बारह बाजे पहुँचे थे हम प्रिंस में। बीस मील चलने को शेष थे। वैसे ही देर हो गई थी, अकेला होता तो मंसूरी दस बजे पहुँच जाता। वे दोनों हटने का नाम न लेती थीं। आखिर मैंने कह दिया—"लेट अस मूव आइ ऐम गेटिंग लेट।"

बैरा बिल ले आया। चतुर व कार्यप्रवीण बैरा ने बिल मेरे सामने रख दिया बड़े अदब से।

वे दोनों चुप थीं। मैंने अपनी हाथ की घड़ी पर देखा-डेढ़ बजे थे।

वे दोनों आपस में बातें कर रही थीं, मानो मेरी ओर उनका ध्यान ही न हो।

मेरी नजर बिल पर पड़ी। साढ़े तीन रुपये लिखे थे। मेरे सामने कोई उपाय न रह गया था—

'यह पेमेन्ट कर दीजिये' मैंने कहा। 'जी'? इन दोनों ने ऐसे स्वर में कहा, मानों सुना ही न हो। उन्हें विश्वास न हुआ कि एक लड़का, लड़की को कह सकता है, पैसे दे दो।

'बिल दे दीजिये' मैंने पुनरावृत्ति की। उन्होंने बिल दे दिया, दो रुपये एक ने दिये व डेढ़ एक ने निकाला। हम तीनों बाहर आये। उनके चेहरे का रंग उड़ चुका था, मैं प्रसन्न हो चुका था अन्त में यह सोच कर कि एक नई प्रथा का मैंने सृजन कर दिया है। उन्हें गुस्सा आ रहा था मुझ पर। शायद 'पहाड़ी या जंगली' आदि कह देतीं वे, पर ऐसा कुछ न बोलीं!

'अच्छा मैं चलूँ' मैंने कहा। मेरे इस प्रश्न का उत्तर दिये बिना उनमें एक बोली "काफी गलतफहमी हुई" मैं सब कुछ समझ गया था।

'हुई तो' उत्तर देकर मैंने अपना रास्ता लिया।

१०२—डा० राधाकृष्णन छात्रालय
विश्वविद्यालय, बनारस

मास्टर कमीने होते हैं

सुश्री निर्मल 'कुसुम'

'मास्टर कमीने होते हैं'

'सब तो ऐसे नहीं होते चमन'

"क्यों नहीं होते ? यह मास्टरों का सारे का सारा वर्ग ही कमीना, कन्जूस, कौड़ी-कौड़ी दाँत से पकड़ने वाला होता है। पैसा खर्चते इनकी जान निकलती है। चपरासियों के कपड़े, न सिनेमा न कभी होटल पर चाय, न सैर, न तमाशे, इनके बच्चे, वह भी इतने गंदे, देखो तो उल्टी आ जाए।"

"लेकिन चमन, हमारा हरि तो कोट-पतलून पहनता है, टाई भी कभी-कभी बाँध लेता है, घड़ी ले आया है। मुझे व तुम्हें कई बार होटल पर चाय भी पिला चुका है……और सिनेमा भी तो कभी न कभी दिखा ही देता है।"

"कहते तो ठीक हो, पर वह तो अभी नया-नया मास्टर लगा है और कुछ साल बीतने दो। उसे भी मास्टर की छूत लग जाएगी……कमीनी मास्टरी की।

श्रीकंठ के सामने यह सीन कितनी बार आता और चला जाता। वह हुक्के की नली मुँह में लिए धुवाँ फेंके जा रहा था।……बीच-बीच में बाएँ हाथ से नली थामता व सिर पर हाथ फेरता सामने उन्नीस-बीस विद्यार्थियों की कापियाँ पड़ी थीं। लाल पेंनसिल से उन्हें निशान देता, काटता, ठीक करता जा रहा था। एक मशीन की तरह....धड़कती मशीन........की तरह।

रसोई में उसकी बीबी व विधवा भावज लड़ रही थीं। पहले हौले-हौले आवाजें आ रही थीं, फिर तेज होती गईं। श्रीकंठ ने पेंनसिल रोक ली, गुड़गुड़ाना बन्द कर दिया, मशीन कुछ क्षण के लिए रुक गई, केवल धड़कती रही। उसने अंगड़ाई ली—मास्टर कमीने होते हैं···उनके घर में आए दिन लड़ाई-झगड़े होते रहते हैं—उसके मस्तिष्क में यह ख्याल कौंध गया·······।

"बाबा, रघु ने मेरी स्याही उँड़ेल दी। अब स्कूल क्या ले जाउँगा ?" दरवाजे पर खड़े होकर उसके लड़के ने अपने चचेरे भाई की चुगली खाई और पास ही कमरे से रघु के जोर-जोर रोने की आवाज आई।

"तुम्हें मैंने लाख बार कहा है, एक दूसरे की चुगली नहीं खाते। याद नहीं रहता तुम्हें, जाओ अपना काम करो।"

"ऊँ···उहूँ ·· ऊँ··· ऊँ मैं किससे लिखूँ, स्कूल में काम दिखाना है" वह आँसू बहाने लगा।

हुक्के की नली हाथ में लेते हुए वह बोला—जा, जाता है कि नहीं, वरना तेरा सिर फोड़ दूँगा, जा याद कर।"

"मास्टर कमीने होते हैं·····बच्चों को आने दो, पैसे की सिहाई पर डाटते हैं" चमन की बात श्रीकंठ दोहराने लगा—

"इतना तेल कहाँ उड़ गया" उसकी बीबी जोर से चीखी।

जवाब में एक और तेज आवाज आई—"मैं क्या तेल पी जाती हूँ।...मैके वाले आते हैं, उन्हें देती हूँ क्या ? कौन से बच्चे वाले हैं। उन्हें खिलाती हूँ।·····एक ले दे के बेचारा रघु है, उसकी भी अगर तुम्हें जलन है, तो उसे··········वह रोने लगी।

"चुड़ैल···डायन बस रोना ही रोना तो तेरी जिन्दगी में पड़ा है। जब देखो, तब आँखों में आँसू लिए रहती है·······मन-हूस कहीं की; न सात बे सात का विचार, न मंगल न शनीचर। बस लगी सुबह-सुबह अपने पुरखों को रोने··········।

"तेरे पुरखों को रो रही हूँ······तेरे·······।" वह जोर-जोर रोने लगी।

बुढ़िया सास ने खाँसा, गला खखारा—"अरी चुप भी करोगी कल-मुहीं कि बस यूँ ही टें-टें करती जाओगी। एक लम्बा खाँसी का दौरा उसे पड़ा। श्रीकंठ की सत्रह साल की कुँवारी बहन चाय के समाचार को उबलता छोड़ दौड़ आई, मां को सँभाला। श्रीकंठ की दोनों लड़कियाँ सामने खड़ी हो गईं। रघु मां को रोता देख सहम गया। श्रीकंठ का लड़का स्याही की शिकायत अब मां से करने गया था, पर दरवाजे पर खड़ा का खड़ा रह गया।

रसोई में चूल्हा बल रहा था, परन्तु किसी को भी उस की लकड़ी सँभालने का ख्याल न था। उबल-उबल कर चाय का अर्क बन रहा था।

श्रीकंठ के मस्तिष्क में ख्यालों के तूफान उठ रहे थे। पेंनसिल हाथ की ढीली पड़ गई थी। उसे अपनी जिन्दगी के बीस-बाईस वर्ष याद उभर रहे थे। एक दिन भी वह शान्ति से रह न सका था। आए-दिन उसके घर में लड़ाई होती रहती थी। तिल का ताड़ बनता था, राई का पर्वत और लड़ाइयाँ प्रायः मास के अंतिम दिनों में ही होती थीं, जब पैसे समाप्त होते थे, रसद····· लकड़ी, तेल, मसाला खतम होता था।

चमन की बात फिर एक बार उसके ख्यालों में उभर आई···· "मास्टर कमीने होते हैं····" "नहीं ···नहीं····" कोई जोर से उसके अन्दर बोला, हुक्के की नली होंठों में लेते हुए उसने कमरे के चारों ओर देखा....बिछा हुआ कालीन, कागज भढ़ी हुई छत, टूटी हुई खिड़कियाँ, दीवारों की उखड़ी हुई मिट्टी, बाप के वखत का हुक्का····और कितनी ही पुरानी धुरानी, चीजें···· सब उसे पुरानी स्मृतियों की याद ला रही थीं। इतने में से कोई

ही चीज ऐसी थी जो वह खुद लाया हो। बाकी उसके बाप दादों की दी थीं। बाप ने मकान की मरम्मत तब की थी जब वह छोटा सा बच्चा था और पास के बेसिक स्कूल में शायद तीसरी जमात में पढ़ता था। उसके बाद एक बार भी वह मकान की मरम्मत लाख चाहने पर भी नहीं कर सका। दीवारों का हलका सा पलस्तर टूटी खिड़कियों की मरम्मत भी न हो सकी।

कभी रघु की कमीज, कभी लड़कियों की सिलवार, कभी ब्लौज··कभी साड़ी, कभी फयरन,··कभी किसी का बूट, किसी की चप्पल, किसी का गर्म कोट, किसी की गर्म बनियान····।

कुँवारी बहनें कँवारी लड़कियां····लड़कों की पढ़ाई······ मास्टरी करते आज उसे बाईसवां वर्ष लग रहा था। वह कभी अच्छी कमीज पहन न सका था। कभी उसके पास दो से ज्यादा पाजामे और दो से ज्यादा कमीजें नहीं थीं।

गर्मियाँ आतीं वह आधी गर्मियों तक पट्टू का कोट पहने स्कूल जाता, क्योंकि उसके पास ठंडा कोट न होता और कभी सर्दियाँ आतीं वह ठंडे कपड़े पहने ही स्कूल का रास्ता नापता दिखाई देता······उसका गर्म कोट फटा होता·······पतलून तो उसने इन सालों में बस दो ही बनाए थे, वह भी खाकी डबरजीन के·······।

वह गर्मियों में लट्ठे या खद्दर का पाजामा पहनता जो न तंग होता न ढीला। सर्दियों में खुरदुरे पट्टू का पाजामा जिसकी म्यानी कोट और कमीज की सीमा पारकर लटकी रहती और घुटने निकले हुए दिखाई देते, और बस एक भूरा जूता जिस की शकल शीतला के दाग वाले मुँह से भी ज्यादा भद्दी हो चुकी थी। सर्दियों में भी चलता और गर्मियों में भी हिम हो चाहे वर्षा वह उसके पैरों में होता। मरम्मत करते-करते उस की एडी और पंजा भारी हो गया था, अब की उसका एक नया जूता लाने का

ख्याल था। लेकिन कितनी ही और चीजें खरीदनी थीं। बहन की फरमाइशें, बीवी के तकाजे, भावज की फटी धोती, बच्चों की स्कूल की फीस..........।

'सुनते हो' बीबी ने कमरे में पैर रखते कहा—इसका मेरे यहां निबाह नहीं हो सकता। इसने मेरे नाक में दम कर रखा है।" उसके मुहँ से ऐसा मालूम हो रहा था कि वह अभी रो पड़ेगी।

श्रीकंठ इस मामले में पड़ना नहीं चाहता था। उस ने जेबी घड़ी को निकाला, समय देखा, नौ हो रहे थे और अभी छः कापियाँ देखनी बाकी थीं।

मुझे कापियाँ तो देख लेने दो, फिर अपने दुखड़े सुनाना, स्कूल को देर हो जायगी।

"जब देखो तब स्कूल कापियाँ—स्कूल कापियाँ! इस स्कूल ने हड्डियाँ निकाल दीं तुम्हरी, सौ टिकल्ली पर इतनी जान खपाते हो, फिर भी कुछ जुट नहीं पाता।"

श्रीकंठ के होठों पर आया कहे—आठ-आठ जनों को एक अकेला जना पाले और फिर जुटे, हड्डियाँ भी न निकलें, यह कैसे संम्भव हो सकता है। लेकिन वह बात बढ़ाना नहीं चाहता था।

उस की लाल पेंनसिल चलती गई, उसका मस्तिष्क अपना काम कर रहा था, ''' मास्टर कमीने होते हैं'''' उनके पास स्कूल कापियाँ''' लड़के' 'पढ़ाई बस यही होता है। सब मास्टर कुछ रुपयों के लिए अपना खून एक करते हैं, फिर भी उनकी घर की जरूरतें पूरी नहीं होतीं। आज के अनुभवहीन नवयुवक जिन पर अभी गृहस्थी का जुआ नहीं पड़ा, कहते हैं मास्टरों का सारे का सारा वर्ग कमीना होता है कञ्जूस' '''' कौड़ी-कौड़ी दांत से पकड़ने वाले' न होटल न सेनीमा न टाई न पैंट''''''' ।

पनसिल चल रही थी, काट छाट हो रही थी, मशीन तेजी से चल रही थी''''हुक्के की नली नीचे पड़ी थी। पत्नी कुछ देर उसे देखती रही, उसके हृदय से शुभ कामनाओं का व्यूह सा निकल कर श्रीकंठ को अपने में समेट रहा था। कहीं इसे कुछ हो न जाए तो वह क्या करेगी ? लौटी तो उसकी आँखों में दो आँसू भरे थे—दो मोटे आँसू'''''' ?उसका हृदय वेदना से दर्द करने लगा था।

श्रीकंठ ने कापियाँ समेट कर एक ओर रख दीं। सवा दस बज रहे थे। उसने कपड़े बदले, फयरन उतारा। लट्ठे का पाजामा और पहनी हुई कमीज पर ही कोट डाल लिया, रसोई में जा रोटी खाने बैठा तो भावज ने अपना रोना रोया। बीबी चुपचाप खाना खिलाती रही। श्रीकंठ हैरान था कि उसकी बीबी क्यों इस समय शान्ति की मूर्ति बनी हुई है। लेकिन उसे यह जानने की फुरसत नहीं थी।

आज उसे तनखा मिलनी थी। बहन ने कहा—आते हुए मेरे लिए डी० एम० सी० लाना। भावज ने कहा खाने का तेल खतम हो गया है। बड़ी लड़की बोली सिर धोए डेढ़ हफ्ता से ज्यादा हो गया। साबुन की एक चाकी भी लेते आइएगा। माँ ने खासां खखारा थूका-न सवार की एक पूरी चुटकी बाएँ नथने में खींच ली—मेरा कुर्ता लूलनी हो गया है''''।

वह इन फरमाइशों को सुनता गया, फारमाइशें सही थीं। माँ का कुर्ता चीथड़े हो चुका था, उसे एक नया कुर्ता चाहिए था। चाय व तेल आज कई दिन से चुक गया था। सामने की दुकान से उधार लाते रहे थे। लड़कियों के लिए सूती फलालैन का सस्ता सा पाजामा बनाना बहुत जरूरी था।—वह कुछ घबरा सा गया, दिमाग चकरा उठा। सर्दियाँ मुहँ बाए चली आ रही थीं। उसकी बीबी के पास भी कोई गर्म चीज न थी,

पैर के जूते आखिरी साँस ले रहे थे। फिर मरम्मत की कोई गुञ्जाइश न थी। वह फेल हुए विद्यार्थी की तरह उदास मन लिए स्कूल पहुँचा, घंटी बजी वह क्लासों में गया—एक मशीन की तरह····रोज की तरह आज भी उसने पढ़ाया। वही सबक जो आज वह पिछले कितने सालों से पढ़ा रहा था···अशोक···अकबर लिटन····रिपन।

वही एक से सवाल जवाब पूछने सुनने का वह आदी हो गया था। वह मशीन की तरह यह सब पढ़ाता····चार बजते छुट्टी होती वह घर लौटता थका मस्तिष्क लेकर····और हृदय में असख्य तूफान लेकर····।

उस दिन भी वह रोज की तरह चार बजे घर लौटा। होटल पर उसने नौजवानों को चाय पीते देखा। सिनीमा के बाहर कोट पैंट पहने लोगों को उसने चहल कदमी करते देखा····।

उसे आज तनखा मिली थी। पूरी तनखाह के पैसे उसके जेब में पड़े थे। वह भी आज क्यों न जाकर होटल में चाय पिए सिनीमा देखे। फिर चमन उसे मिले तो वह उनसे कहे देखो मैं कमीना नहीं कञ्जूस नहीं····लेकिन कपड़े देख कर तो वह कहेंगे चपड़ासियों के से कपड़े। कपड़े की कई दुकानें वह पार कर चुका था। लेकिन गुलाम रसूल की दुकान के सामने उसकी टांगें कुछ क्षण रुक गईं और हाथ जेब में पड़े पैसों पर····।

"क्यों न अपने लिए गर्म कोट का एक पीस खरीद लूं··· बूट···· बूट की ओर उसकी नजर पड़ी, नहीं··· उसकी लड़कियां सर्दी में बिना पाजामा के क्या करेंगी। गर्म कुर्ते भी बनाने पड़ेंगे लड़कों के लिए··· लकड़ी जलाने का गोबर···कांगडी के लिए कोयले····वह बहुत जरूरी है।

"चमन। ... हूँ....चमन क्या जाने उसके बच्चे नहीं बीवी नहीं। मेरे बीबी है, भावज-बच्चे हैं" उसने एक गाड़ी वाले से डी० एम० सी० की दो गुच्छियाँ खरीद लीं। चार गज लट्ठा माँ के लिए। खानेदार कपड़े भी दो मोटी सी धोतियाँ—बीबी और भावज के लिए। ... साबुन की एक चाकी भी।

वह घर लौटा....वह पैसों का हिसाब करता जा रहा था। कितने ही तरीकों से सोचने पर भी वह अपनी मुख्य जरूरतों को उन पैसों में पूरी नहीं कर पाता था ....।

वह अपने ही आप पर झुँझला उठा...कौन कहता है मास्टर कमीने होते हैं....देश को शिक्षित करने वाले....मास्टर कमीने नहीं होते, कञ्जूस नहीं होते, उनको जिन्दगी के दिन बिताने के लिए कमीना कञ्जूस बनना पड़ता है....हमारी हालतें हमें मजबूर करती हैं। उसे याद पड़ा—मोती लाल उसके साथी अध्यापक ने एक दिन कहा था—"आज की हालतों में एक शरीफ घर का इनसान चोर डाकू कमीना कातिल बन जाए तो बड़ी बात नहीं।"

"ठीक कहा था उसने" वह घर की ओर बढ़ता गया।

घर में सब ने उसका स्वागत किया। मां ने बलाएँ लीं, बीबी ने सारा स्नेह--प्यार उंडेल दिया। बहन ने दौड़कर डी०एम०सी० ले ली और भाई के लिए चाय बनाने लगी बड़े प्यार से। लड़कियों ने खुशी-खुशी साबुन ली और सिर खुजाने लगी जैसे साबुन हाथ में लेते ही उनके सिर का सारा मैल, जुएँ खतम हो जाएँगे। दोनों बच्चे दौड़ आए....बीबी हुक्का भर लाई, भावज ने कपड़े खूँटी पर टांग दिए।

श्रीकंठ ने सोचा—"कौन कहता है मास्टर कमीने होते हैं, कञ्जूस होते हैं।....यह सब तो कितने खुश हैं। मैं इनके लिए

कपड़ा, साबुन, धोती लाया हूँ मैं कन्जूस नहीं ···· कमीना नहीं"

उसे ऐसा लगा कि उस की मां, बीबी, भावज, बच्चे सब उससे कह रहे थे कि तुम कन्जूस नहीं कमीने नहीं।

निर्मल कुसुम
निकट डी० एन० तथा
टनकीपुरा
श्रीनगर (काशमीर)

मौन ममता

(श्री रामपूजन मल्लिक)

बात-बात पर रूठ जाने की मेरी आदत-सी हो गई है। मेरे घरवाले तो इससे परेशान हैं ही, स्वयं मैं भी इससे तंग आ गया हूँ। कभी पिताजी के कहने पर सबेरे जल्दी उठा करो, मेरे शरीर में जैसे आग लग जाती है और मैं एकदम भभक उठता हूँ, "आप तो चाहते हैं कि मैं सोऊँ ही नहीं। "अच्छी बात है, मैं अब घर में सोता ही नहीं।"''कभी-कभी भाभी के प्यार भरे शब्दों को सुनकर''''"छोटे बाबू, भोजन कर लो।" मुझे खुशी नहीं होती। सिर पर गुस्से का भूत सवार हो जाता है। और मैं पूरी ताकत से चिल्ला पड़ता हूँ, "मुझे जब खाना होगा, खा लूँगा। तुम चुपचाप बैठी रहो।" तात्पर्य यह कि रूठने का क्रम क्रोध से आरम्भ होता है और धीरे-धीरे बढ़ता ही जाता है। आप ही बताइये, क्या मुझे ऐसा करना शोभा देता है ? मैं भी यह सोचा करता हूँ, मैं ऐसा क्यों करता हूँ ? मैं बच्चा नहीं हूँ''''मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये''''फिर भी ··मैं वही करता हूँ जिससे मेरा मन स्वयं सहमत नहीं।

घर में मुझसे सहानुभूति रखनेवाला ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो रूठने पर मुझे मनाने आये''''मेरे सामने गिड़गिड़ाएँ और मैं कोरा आत्मसम्मान दिखाने के लिए और भी अकड़ता जाऊँ''''मेरी गलतियों को अपने सिर लेकर दुनियाँ भर की कसमें खाए और मैं मन ही मन उसके स्नेह की मिठास का अनुभव करता मुँह

फुलाये बैठा रहूँ। लेकिन, मेरी ऐसी किस्मत कहाँ ? मुझे गुस्सा आता है, रूठता हूँ और फिर अपने आप पर खीझकर सारा गुस्सा कड़वे घूँट की तरह पी जाता हूँ। मैं तो निश्चित अवधि तक ही रूठता हूँ, पर···पर मेरी माँ, जब मैं बहुत छोटा था मुझसे रूठकर चली गई और अब तक नहीं लौटी।····न जाने कब लौटेगी ? मुझे रूठने पर भले ही कोई नहीं मनाता, पर मैं अपनी माँ को जरूर मना लेता। उसकी गोद में मुँह छिपाकर खूब रोता, अपनी कसमें खाता, उसके पैरों से लिपट जाता, लेकिन मैं यह सब न कर सका। लोग कहते हैं जब वह मुझे छोड़कर चली गई तब मैं पालने में अकेला पड़ा-पड़ा रोता रहा। आखिर नहीं रोक सका उसे। वह चली गई। शायद कभी नहीं लौटेगी अब। पिताजी भी यही कहते हैं। घर को अपने लिए समानुभूति से खाली पाकर जब मेरे मन पर चोट लगती है, तब मैं महादेव की पान की दूकान पर जा बैठता हूँ। महादेव की माँ मुझे बहुत चाहती है, मैं उसे काकी कहता हूँ।

"छोटे बाबू चाय नहीं पियोगे ?" भाभी के स्नेह ने मुझे उकसा दिया।

"पी लूँगा···टेबिल पर रख दो····।"

भाभी चाय की प्याली मेज पर रख रसोईघर में चली गईं।

"मैं जैसे लावारिस हूँ··· मेरा कोई है ही नहीं इस घर में·· सब अपने-अपने रंग में मस्त रहते हैं।···मेरी किसी को कुछ परवाह ही नहीं···मैं भी कुछ नहीं समझता किसी को···हूँ।" मैं ज्वालामुखी की भाँति फट पड़ा।

"क्या है ? क्या शोर मचा रखा है ?" पिता जी ने पूछा।

"हाँ जी···मैं तो शोर ही मचाया करता हूँ····आप भी मुझे ही कहते हैं···देखिये···ठंडी चाय दे दी मुझे।"

"इसमें बिगड़ने की क्या बात है ? गरम कर दी जायगी। नालायक कहीं का।"

"रहने दीजिये, मुझे नहीं पीनी है····।" और मैं आंधी की तरह घर से निकल पड़ा। महादेव की पान की दूकान पर बैठने के बाद ही कुछ शांति मिली··। "मैंने ठीक नहीं किया···मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये था। भाभी बेचारी भी क्या करें। उन्होंने तो गरम चाय ही दी थी··मैंने ही पीने में देर कर दी। हूँ···· पिताजी भी मुझे ही खरी खोटी सुनाया करते हैं, जैसे सारा दोष मेरा ही रहता है···।" मैं इन्हीं विचारों में डूब-उतरा रहा था कि महादेव की माँ ने सरौता चलाते हुए कहा, 'क्या सोच रहे हो भैया ?" मैं चुप रहा। उसने फिर पूछा—"चाय पी ली तुमने ?"

"नहीं।" मैंने रूखे स्वर में कहा।

"आज भी रूठ कर आये हो घर से। पगले कहीं के।··· इसीलिये मुँह फुलाये बैठे हो। मेरे यहाँ पी लो···और मैं चाय के साथ सारा गुस्सा भी पी गया।

उस दिन से शाम को चाय मैं वहीं पीने लगा। ··कितनी स्वादिष्ट चाय बनाती है महादेव की मां।·· और कितने प्यार से पिलाती है। मैं अब शान्ति, स्नेह और ममता जैसी किसी वस्तु का अनुभव करने लगा। कितना अन्तर है·· मेरे घर की और यहां की चाय में ··उसमें मीठा विष और इसमें स्नेह की मिठास घुली रहती है।

इस स्नेह की मिठास को मैं मन में भर लेना चाहता था ताकि तिल तिल घुलानेवाले विष को पचा सकूँ। इस स्नेह ने मेरे जीवन को वह संबल दिया जो किसी कमजोर पौधे को पतली-सी बांस की कमची से प्राप्त होता है। मुझे वहां रोज-रोज चाय पीना बहुत बुरा जरूर लगता, पर क्या करता ·· हृदय से मजबूर था। ··स्नेह पाने की लालसा को मैं दबा नहीं पाता····

और यह सम्भव भी कैसे होता भला ? मुझे जीवन में किसी का स्नेह नहीं मिल सका था। इसीलिए अब मैं उसे पाकर उससे अपने जीवन के ऊसर को जी भरकर खींच लेना चाहता था। स्नेह की प्यास कभी बुझने का नाम नहीं लेती। लेकिन··मेरे मन में तरह तरह की शंकाएँ पैदा होतीं .. महादेव की मां मुझे चाय क्यों पिलाती है ..और वह भी रोज। पहले तो नहीं पिलाती थी। पर अब क्यों ? और फिर वह गरीब भी है। फिर कैसे ? क्यों ? .. किसलिए ?····

'काकी' मैंने चाय की चुस्की लेते हुये कहा—'तुम मुझे रोज चाय क्यों पिलाती हो ? पहले तो····'

'मैं क्यों पिलाऊँगी' उसने मजाक के लहजे में उत्तर दिया। 'मुझे क्या पड़ी है जो चाय पिलाऊँगी तुझे....? पहले अपनी सूरत तो देख।'

'नहीं .... बताओ न काकी। नहीं तो मैं नहीं पिऊँगा, हाँ।'

'समझ ले तेरी मां चाय पिलाती है तुझे। .. बस।' उसका यह उत्तर पाकर मैं कुछ न कह सका। 'माँ चाय पिलाती है मुझे ? पर मेरी मां तो .. हो सकता है मान कर चली आई हो। पर फिर मुझसे क्यों नहीं मिलती ···· मेरे पास क्यों नहीं आती मेरी मां ?' एक साथ कितने ही प्रश्नों का बवन्डर मेरे मस्तिष्क में घूमने लगा।.. चारों तरफ एक आवाज गूँजती हुई सी सुनाई पड़ती थी.. माँ....माँ....माँ।

मैंने मैट्रिक की परीक्षा पास की है, इसलिये कि मौका पड़ने पर कहीं नौकरी तो मिल जायेगी। किन्तु ... शायद वह मौका मेरे जीवन में कभी आयेगा ही नहीं.... मुझे क्या करना है नौकरी करके। घर में अनाज का व्यापार होता है....पंसारी की दूकान ने मोहल्ले में धूम मचा दी है और फिर कहना तो नहीं चाहिये .... ब्लैक मार्केटिंग से भी जेब का वजन कुछ बढ़ जाता है।

पिताजी हैं, दो बड़े भाई हैं, कारोबार बड़े मजे में चल रहा है। ....फिर मुझे नौकरी करने की क्या जरूरत ? खाता पीता मौज उड़ाता हूँ। पर इससे आप यह न समझ बैठें कि आवारागर्दी करता हूँ मैं। थोड़ी सी कला की उपासना कर ली है....कलाकार का खिताब मिल गया है। रेडियो पर सितार बजा लेता हूँ कभी कभी। पन्द्रह बीस रुपये मिल ही जाते हैं ... जेब खर्च ही सही।

धूप बड़ी तेज थी। सूर्यदेव को भी शायद अपने तेज पर घमंड हो गया था। लगता था सूर्यदेव त्योरी चढ़ाकर कह रहे हों "मैं रहूँगा या यह दुनिया रहेगी।" उनके क्रोध से बचने के लिये सब घर में मुंह छिपाये बैठे थे। उसी दिन मुझे रेडियो स्टेशन जाना था। घर से भोजन करके मैं पान की दूकान पर गया। महादेव की माँ ने पान का बीड़ा मेरी ओर बढ़ाते हुये कहा, "इतनी धूप में कहाँ जा रहे हो भैया ? ....छाता भी नहीं है तुम्हारे पास। ठहरो मैं अभी आई।" और वह सामनेवाले छोटे से मकान में गई ....मैंने सिगरेट सुलगाकर एक जोर का कश खींचा, और सोचने लगा, "कभी इस छोटे से मकान की दीवारें नहीं हंसतीं.... क्यों ? होली आती है और सबको खुशी के रंग में रंगकर चली जाती है.... पर यह छोटा सा मकान हमेशा दुख में ही डूबा रहता है.... दीवाली में दीपों से मोहल्ले के मकान जगमगा उठते हैं, लेकिन इसमें सदा अंधकार का ही राज रहता है। ऐसा क्यों ? ....खुशियों को इससे घृणा है या इसे खुशियों से ....?"

"यह लो, रिक्शे पर चले जाना.... धूप बहुत है।" महादेव की माँ ने अठन्नी मेरी ओर बढ़ाते हुये कहा। मैं चौंक पड़ा, "आं, ये क्या ?.... नहीं, नहीं मुझे नहीं चाहिये.... चला जाऊँगा पैदल।" और मैं चल दिया। रास्ते में सोचता रहा, "महादेव की

माँ उस छोटे से मकान में गई, अठन्नी ले आई.... मुझे देने के लिये.... क्यों ?"

शंका ने पैर पकड़ लिये। मैं वापस लौट पड़ा। देखा, महादेव की मां उसी छोटे मकान के पास बैठी एक स्त्री को कुछ समझा रही है। स्त्री की आंखों से आँसू बह रहे हैं। जान पड़ता है, वह उसी मकान में रहती है। स्त्री ने आंचल से आँसू पोंछते हुए कहना शुरू किया, "अपनी देह की भी परवाह नहीं उसे··इतनी धूप में पैदल जायेगा उतनी दूर। महादेव की मां, क्या करूँ···· मन नहीं मानता।" कहते कहते अकस्मात उसकी दृष्टि मुझ पर पड़ी और वह मकान में चली गई।

मेरे मस्तिष्क में भूचाल-सा उठने लगा। दिल की धड़कन न जाने क्यों उत्तरोत्तर तीव्र होने लगी। पल भर के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे पैरों के नीचे से धरती खिसक गई हो। आंखों के सामने अंधेरा सा छा गया। मैंने अपने आपको सम्भालते हुए कहा—"काकी यह स्त्री कौन है ?··· क्यों रो रही थी यह ? उसकी आंखों में आँसू क्यों थे ? बताओ, क्या दुख है उसे ?"

"पागल हो गया है क्या ? बिधवा है बेचारी।····जवान लड़का था, जिन्दगी का सहारा····उसे भी भगवान ने उठा लिया। उसी को याद कर रो रही थी।"

'ओह····जवान लड़का। भगवान ने उठा लिया। आंखों में आँसू। काकी···साफ साफ कहो काकी··नहीं तो पागल हो जाऊँगा।"

"पागल तो हो ही गया है तू, बेकार ही बके जा रहा है। जा अपना काम कर।"

मैं हृदय में असह्य पीड़ा लिए वहाँ से चल दिया। एक-एक करके सभी घटनायें मेरी आँखों के सामने फिरने लगीं····"समझले तेरी मां तुझे चाय पिलाती है।····धूप बहुत है, रिक्शे पर चले

जाना।""इतनी धूप में पैदल जायगा, क्या करूँ, मन नहीं मानता। बेचारी विधवा है, जवान लड़का मर गया।""याद कर लेती है।"" ओह! मैं पागल हो जाऊँगा।""सचमुच मैं पागल हो जाऊँगा।"

× × ×

मैं अब कुछ खोया सा रहता हूँ। किसी काम में दिल लगता ही नहीं। हर घड़ी उसी स्त्री की आँसुओं में डूबी हुई तस्वीर आँखों के सामने फिरा करती है। उसका जवान बेटा मर गया है...मुझे कितना चाहती है,"" पर मुझसे कभी कुछ कहती-सुनती क्यों नहीं? अपने बेटे को याद कर लेती है। मेरे लिए उसकी आंखें डबडबायी हुई थीं। इन्हीं विचारों में खोया रहता हूँ रात दिन। घरवालों की किसी बात का जवाब तक नहीं देता,....रूठता भी नहीं।"" घरवाले समझते हैं कि मैं बिलकुल नम्र हो गया हूँ।

"भाभी! दाल में नमक ज्यादा डाल दिया है आज।"

"खाने क्या बैठता है, लगता है कानून छाटने।" भैया गरज पड़े, "जो मिलता है, चुपचाप खा लिया कर। बक-बक मत किया कर।"" कौड़ी का तो काम नहीं होता। बैठे बैठे रईसी बताता है।" भैया की यह बातें जहर में डूबोये हुए तीर की तरह मेरे मन पर लगीं। पर मैं चुप रह गया। आजकल मैं बातें सुन कर भी चुप रह जाया करता हूँ।

हाथ धोकर उठ खड़ा हुआ और चल दिया, वहाँ जहाँ मां का प्यार मिलता है मुझे। सोचा""मुझ जैसे निकम्मे के घर में रहने से क्या लाभ? बोझ बनकर रह गया हूँ सबके लिए। चला जाऊ गा कहीं।"

"काकी। जा रहा हूँ काकी।"

"कहाँ जा रहा है रे? क्या हुआ है तुझे? बताता क्यों नहीं?"

"घर काटने दौड़ता है मुझे। एक पल के लिये भी नहीं रह

सकता अब वहाँ।....जहाँ रोज मेरे आत्म-सम्मान को ठेस लगती हो, वहाँ रहना ...यदि आज मेरी मां होती तो मेरे आँसू पोंछती। प्यार के दो बोल तो बोलती। पर मैं बड़ा अभागा हूँ काकी। बड़ा अभागा हूँ मैं ....।"

अचानक मैं विचलित हो गया। उस छोटे से मकान के भीतर से उस स्त्री की सिसकियों की आवाज सुनाई दी। मेरा मन विह्वल हो उठा। उसके रोने में पत्थर को पिघला देने की शक्ति थी। मैं निश्चय से डिग गया। "नहीं नहीं। मैं नहीं जाऊँगा। नहीं जा सकूँगा। मां के स्नेह से विलग होकर कहीं भी शांति नहीं पा सकूँगा मैं। घर के लोग भले ही मेरे हृदय को व्यंग्य के तीरों से जख्मी कर दें, किन्तु मां का स्नेह उस पर मरहम तो रख देगा।

मेरे पांव बरबस ही उस मकान की ओर बढ़ चले। वह अब भी रो रही थी। मैं श्रद्धा को न छिपा सका। आंसू बनकर वह निकल ही पड़ी।

"मां" मेरा स्नेह उसके चरणों से लिपट गया। "तुम्हें छोड़ कर नहीं जाऊँगा। कभी नहीं जाऊँगा मां।"

आंखों से बहते हुए स्नेह के आंसू मां के चरण धोने लगे।

सूचना तथा प्रकाशन विभाग,
मध्यप्रदेश शासन,
नागपुर

स्वप्न भंग

(सुश्री गायत्री सक्सेना)

जेल के बाहर सन्नाटा था। गरम हवा सूखे पत्तों को इधर-उधर उड़ा रही थी। यही खड़-खड़ का शब्द कभी-कभी सन्नाटे को चीर देता था। प्रोफेसर अजित बाहर अन्यमनस्क-से पेड़ों के नीचे टहल रहे थे। जेल के घन्टे ने एक-एक कर दस बजाए। अजित ने ठंढी साँस ली। एक घण्टा और, केवल एक घन्टा और, उसके बाद ? उनका सिर झन्ना गया। आगे सोचने के लिए उनके पास शक्ति नहीं थी।

एक छायादार पेड़ के नीचे बैठ गए। अतीत पुस्तिका के पृष्ठ उलट गए।

एल. टी. की छात्रा भारती सम्मुख आ गई। गहरे विषाद की छाया से घिरी, अनोखा व्यक्तित्व उनके आकर्षण का केन्द्र बन गया। उसी वर्ष बलवन्त राजपूत कालेज के शिक्षण विभाग में उनकी नियुक्ति हुई थी। नया जोश, नई उमंग, दिल करता था सब कुछ पढ़ा डालें। समस्त छात्र-गण ही उनसे प्रभावित थे। यदि कोई निर्लिप्त थी तो भारती, जो प्रतिदिन ठीक समय पर आती और घन्टा बजते ही चली जाती। वह जितनी तटस्थ थी, वे उतनी ही तेजी से उसकी ओर खिंच रहे थे।

भारती के यही सुपरवाइज़र थे। अतः संकोच का व्यवधान धीरे धीरे हट रहा था। परन्तु फिर भी भारती के उत्तर बहुत संक्षिप्त होते थे। एक दिन—

"एल. टी. तो आप पास हो ही गई समझिए । इसके पश्चात् ?"

"इधर-उधर कहीं आवेदन-पत्र भेजूँगी ।"

"सदा ऐसी ही तपस्विनी बने रहने का इरादा है क्या ?"
एक क्षीण मुस्कान उसके होठों पर फैल गई ।

"मुझसे विवाह कौन करेगा प्रोफ़ेसर साहब ?"

"क्यों ?"
भारती मौन हो गई ।

शृंखला टूट गई । हवा में गरमी बढ़ रही थी । पेड़ की छाया भी गरम हो चली थी । विचारधारा और आगे बढ़ी । परेशान घबराई हुई भारती की मूर्त्ति सम्मुख आई ।

"क्या थोड़े दिनों को विवाह स्थगित नहीं हो सकता ?"

"क्यों ?"

"आप आवेश में काम कर रहे हैं प्रोफ़ेसर साहब ? मेरा अतीत…"

"मुझे तुम्हारा वर्त्तमान व्यक्तित्व ही पसंद है भारती, अतीत को भुला दो" वैवाहिक साज सज्जा से भूषित भारती सम्मुख खड़ी थी ।

"क्यों, तुमको विवाह से प्रसन्नता नहीं हुई ?"

उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में विषाद के आँसू भरे थे ।

"आप बहुत उदार व विशाल हृदय युक्त हैं । मैं संतुष्ट हूँ ।"

"आज मेरे पास बहुत अवकाश है सुनने व सुनाने को । तुम भी तो अपना अतीत सुनाना चाहती थीं न ? परन्तु पहले मेरी कहानी सुनो ।

"सुनोगी न ?" भारती ने सिर हिलाया ।

"………भूल मानव की दुर्बलता है, पर इससे कोई बचा नहीं । मुझसे भी एक भूल हो गई और दुःख यही है कि मैं आज

तक उसका प्रायश्चित नहीं कर सका। बात आज से चार वर्ष पूर्व की है। मैं आगरा कालेज में एम० ए० फाइनल में पढ़ता था। माता-पिता, भाई-बहिन सबके प्रेम से वंचित चाचा के कठोर व्यवहार से घबराया, किसी के सहानुभूति भरे दो वाक्यों से ढलक जाना कोई अनहोनी बात न थी। मेरे प्रोफेसर मुझ पर कृपालु थे। उनकी सहानुभूति ने द्वार खोल दिया। उनकी ही पुत्री के प्रणयपाश ने मुझे बन्दी कर लिया। परंतु प्रोफेसर साहब के कोप का सामना करने का साहस न था। अतः उस लड़की को वचन देकर थोड़े दिनों में, मैं अवश्य ही उससे विवाह कर लूँगा, एक दिन चुपचाप कानपुर चला गया। केन्द्र भी परिवर्तित करवा लिया। आज तक कभी मैंने उसकी सुध न ली।"

भारती ने लम्बी साँस ली।

"क्यों, मुझे क्षमा नहीं करोगी?"

प्रश्न प्रत्युत्तर में प्रश्न बन कर रह गया।

"आज तुम बहुत उदास लग रही हो। अच्छा, तुम अपनी कहानी सुनाओ न? तुम भी तो सुनाना चाहती थीं न?"

"अब उसको न सुनाना ही अच्छा है।"

"नहीं, सुनानी ही होगी। भूल किससे नहीं होती?"

भारती एक क्षण सिहरी, परन्तु सँभल गई। उसने अपनी गहरी काली आँखें ऊपर उठाकर अजित की ओर देखा। उन आँखों से विश्वास झलक रहा था।

"मुझे आप क्षमा कर देंगे न?" एक क्षण के लिए वह फिर मौन हो गई।

"क्यों नहीं," अजित ने उसके हाथ को दबा दिया।

"एक ऐसी भी सीमा आती है, जहाँ मनुष्य का विवेक और शक्ति हार कर परिस्थिति एवं प्रारब्ध के हाथों में अपने को समर्पित कर देता है। मनुष्य समझता है कि यह मार्ग अनुचित

है, पर फिर भी परवश हो जाता है। मैं भी अपनी भूल के लिए किसको दोष दूँ।

मैं लखनऊ में इन्टर की छात्रा थी। मां बहुत निर्धन थी। मैं बड़ी कठिनाई से किसी तरह छात्रवृत्ति से पढ़ रही थी। घर का खर्च कैसे चलता है, मुझे इसका ज्ञान नहीं था। माँ के पास एक लड़का रंजन अक्सर आया करता था। वह उनसे बात करता और चला जाता। मैंने कभी ध्यान नहीं दिया। सत्य यही है कि मैं उससे हृदय से घृणा करती थी। फिर भी माँ के लिहाज में कभी-कभी शिष्टाचार-वश उससे कुछ बात करनी ही पड़ती थी।

एक दिन माँ घर नहीं थी। मेरे एकान्त से उसने अनुचित लाभ उठाया। मैंने विरोध किया और भरसक, परंतु वश नहीं चला। लोकलाज ने मेरा मुँह बंद कर दिया था। मैं चिल्ला भी नहीं सकी। जब चेतना का द्वार खुला तो मुझे मालूम हुआ कि मैं मां बन चुकी हूँ। माँ सब समझकर भी मौन रही। एक दो बार कहा अवश्य कि मैं उससे विवाह कर लूँ। परंतु मेरी उग्र मूर्ति को देखकर मुझ पर जोर नहीं डाल पाई। उसी समय मुझे लेकर बुलंदशहर आ गई। वहीं पुत्र उत्पन्न हुआ, परन्तु मृत। मैं आगरे आ गई। छात्रवृत्ति किसी प्रकार उपलब्ध हो गई। यहाँ मैंने बी०ए० किया और एल० टी०।"

अजित सन्न रह गया था।

भारती घबरा गई। "क्या आप मुझे क्षमा नहीं करेंगे?" उसके स्वरों में कातरता थी।

"तुम्हारी कहानी ही कुछ दूसरी है। क्षमा तो मैं कर सकता हूँ, परन्तु''' वास्तविक पति तो वही है भारती। क्या रंजन अभी भी जीवित है?" "हाँ, परन्तु उससे मैंने सदा घृणा की। अब भी करती हूँ।" उसका गला भर आया था।

अजित गंभीर था।

"बताइए, मैंने क्या अपराध किया। जो हुआ उसमें मेरी इच्छा नहीं थी, परवशता थी। और मैं इसीलिए विवाह से सदा उदासीन रही। मैंने आपसे एक बार कहा भी था, मुझसे विवाह कौन करेगा ? कितनी ही बार मैंने आपसे प्रार्थना की कि विवाह के लिए शीघ्रता करनी ठीक नहीं। मेरी कहानी सुन लीजिए। विवाह के एक सप्ताह पूर्व जब मैंने देखा कि मैं चाहने पर भी कुछ कह नहीं सकती, तब एक पत्र में सब कुछ लिखकर आपके पास भेजा। पर जान पड़ता है, वह भी आपको नहीं मिला।"

पति-पत्नी होते हुए भी दो अपरिचित प्राणियों की तरह रहते एक सप्ताह बीत चुका था।

"मैं पी० एच० डी० करने इंगलैंड जा रहा हूँ। तुम्हारी समुचित व्यवस्था यहीं कर दी है।"

भारती डबडबाई हुई आँखों से बाहर देख रही थी।

... इंगलैंड गए थे कि घटना भूल जावेगी। कदाचित् मन को समझा बुझाकर भारती के साथ समुचित सुचारु रूप से जीवन व्यतीत करने में सरलता हो जावेगी। परन्तु उदासीनता और कठोरता रंच मात्र भी न बदली।

भारती का पत्र साकार हो उठा।

मेरे देवता !

मैं जानती हूँ, यह सम्बोधन तुमको क्षुब्ध करेगा। परन्तु मुझे एक बार कह लेने दो, मेरा अधिकार मत छीनो। तुमको छोड़कर इस विशाल जगती में मेरा है कौन ? मेरी व्यथा कौन समझे ? परन्तु क्या कहूँ ? कैसे कहूँ ? कह नहीं सकती। कहने के लिये भाषा ही नहीं पाती।

क्या तुम सचमुच नहीं आ सकते ? बीच धारा में डगमगाती

हुई किनारे आने का प्रयास कर रही हूँ, पर तुम कितनी दूर हो ? मेरी आवाज तुम्हारे कानों को छू भी नहीं सकती।

मैं डूब रही हूँ। तुम दूर हो। दूर तक मेरी आँखें तुमको ढूंढती रहती हैं। तुम नहीं आ सकते तो मुझको ही अनुमति दो कि मैं आजाऊँ। जो कुछ भी तुमने मुझको दंड दिया, उचित है। मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है। मैं इसी योग्य थी। तुम्हारे स्थान पर यदि मैं होती तो शायद मैं भी यही करती। परन्तु मैं बिखर रही हूँ। तुम्हारे सुख के लिये मैं मृत्यु का भी आलिंगन करने को प्रस्तुत हूं, एक बार आ जाते, तुम्हारे चरणों में मर कर भी मैं अपने को धन्य समझती।

मैं केवल तुम्हारे लिये ही जीवित हूं। तुम्हारे प्रेम का जो कुछ भी मुझे अंश मिला उससे मैं इतनी तृप्त हूं कि तुमको किसी प्रकार का दोष नहीं दे सकती। दूँगी भी नहीं। परन्तु कितना सूनापन है मेरे जीवन में। प्याला होठों तक आ भी नहीं पाया कि बीच में ही गिर कर टूट गया। काश तुम मेरी वेदना समझ सकते।

मैं वही हूं, जिसे तुमने कभी प्यार दिया था। मैं वही हूं, जिसे तुमने विश्वास दिया था। काश तुम मेरी टीस एक क्षण को भी जान पाते।

सब बातें मैं कह नहीं सकी, कह नहीं सकती। मेरा दुःख आज बातों का अतीत हो चुका है। अगर अन्दाज से समझ सको तो समझ जाओ नहीं तो जीवन की यह पहली वेदना है, जो तुमसे छिपी रही।

तुम पुरुष हो। दुःख के साथ जूझते रहते हो। हमेशा से पुरुषों का यही धर्म रहा है, किन्तु हम स्त्रियाँ तो युग-युग से दुःख सहती आई हैं शायद सहती भी जावेंगी। आँसू के सिवाय हमारी पूँजी है भी क्या ?

दो वर्ष बीत चुके। यहाँ न आने का इरादा करके ही तुमने वहीं अपनी नियुक्ति करवाली। तुम नहीं आना चाहते, तो मुझे ही आ लेने दो। दूर से ही देखकर आश्वासित हो जाऊँगी। पत्नी की तरह नहीं, सेविका की भाँति ही रहने दो।

जन्म-मरण में अब केवल एक ही साध है। तुमको एक बार देख सकूँ। ऐसा न हो कि तुम्हारे आने के पहले ही कुछ हो जाय।

उत्तर शीघ्र देना। प्रणाम।

—भारती

इस पत्र के साथ ही एक और पत्र भी अजित की आँखों के सामने घूम गया।

पूज्यवर !

काश आप अपनी पत्नी से इतना ही प्रेम कर सकते जितना वह आपसे करती है। आप ही उसे बचा सकते हैं इसलिए कि वह आपकी पत्नी है। मित्र के वेश में एक शत्रु उसको नष्ट कर देने पर उतारू है। आ सकें तो शीघ्रता करें।

आपके हितैषी

लू के एक झकोरे ने अजित को झकझोर दिया। घड़ी देखी, साढ़े दस बज चुके थे। उसकी आँखें आँसुओं से डबडबा आईं थीं। वह पुनः विचारों में खो गया।

इंगलैंड से लौटकर कितनी खोज की। राजकीय महिला हायर सेकेंडरी स्कूल उन्नाव में जाकर पता लगाया। मालूम हुआ कि तीन महीने हुए उसने काम छोड़ दिया। आजकल राजपुर रोड देहरादून में है।

देहरादून में बड़ी कठिनाई से उसका पता चला। तीन दिन बिना खाए-पिए बीत चुके थे, पर भारती को ढूँढ़ निकाले बिना

चैन ही कहाँ था ? मुझ निष्ठुर के खातिर कितनी ठोकरें उसे खानी पड़ीं।

मकान का द्वार खटखटाया। एक लड़के ने निकलकर पूछा—

"किसे चाहते हैं ?"

"श्रीमती मिश्रा को।"

"यहाँ कोई श्रीमती मिश्रा नहीं हैं।"

"भारती हैं ?"

"हाँ, क्या कह दूँ ?"

"कह दो अजित आए हैं।"

भारती आई, पर दौड़कर गले नहीं मिली। वह मुरझाई एवं खोई हुई सी खड़ी रह गई।

"मैं तुमको लेने आया हूँ।"

"बहुत देर हो चुकी है अब........" थकी हुई सी बोली।

"मुझपर तुमको दया नहीं आती ? इन तीन वर्षों में मैं कितनी बीमार रही। देखो, मैं वही हूँ क्या ? मुझे क्षमा करो। चलो।"

"मैंने तुम्हारी प्रतीक्षा की, तुम नहीं आए। तुमको पत्र लिखा। तुमने उत्तर देने की भी आवश्यकता नहीं समझी। रंजन बार-बार मुझसे यही कहता गया कि तुम मूर्ख हो, उसकी प्रतीक्षा कर रही हो। वह नहीं आवेगा। तुम मेरे साथ चलो। मैं सब जानकर भी तुमको अंगीकार करने को प्रस्तुत हूँ। सहानुभूति मानव का सम्बल है और मानव की सबसे बड़ी दुर्बलता भी। मैं ढलक गई।"

"यह सब मुझे क्यों सुना रही हो ? चलो।"

"वह यहीं है। मैं उसके साथ रहती हूँ। मैंने उससे विवाह कर लिया है। तुमने ही तो कहा था कि यही वास्तविक पति है। परन्तु मैं उससे घृणा करती थी। अब फिर घृणा हो गई है। उसने मुझसे झूठ बोला कि तुम कभी नहीं आओगे। लेकिन तुम आ

गए। मैं तुम्हारे योग्य नहीं रही हूँ, इसलिए कि अबकि समर्पण में मेरी इच्छा थी। तुम जाओ और कभी मुझसे मिलने की चेष्टा न करना।" रोती हुई भारती ज़ीने पर चढ़ गई।

देहरादून के स्टेशन पर गाड़ी आने में देर थी। अजित गंभीर उदास टहल रहा था। उसने अपने हाथों से अपना खिलौना तोड़ दिया। उसका कोई अपराध नहीं। दूर्बल अशक्त नारी किसी के प्यार की छत्रछाया चाहती है। उसने उस निर्मल पवित्र प्यार को ठुकरा दिया।

दूर से एक आकृति दीखे, कुछ पहचानी हुई। भ्रम निवारण क्षण भर में हो गया। वह भारती थी। उसका मुख पीला था। वह काँप रही थी। अजित ने उसे अपनी बाहुओं में सँभाल लिया।

"मैंने उसे समाप्त कर दिया। हम दोनों के बीच वही बाधा रूप था। उसी ने हमारा सर्वनाश किया। अब वह कभी हमारे बीच में नहीं आवेगा। अब वह कभी हमारे बीच में नहीं आ सकता, नहीं आ सकता।" भारती अब भी काँप रही थी।

"ओफ़! मैं अपनी घृणा स्वयं नहीं सहन कर पाई। तुम नहीं आए, मैं हिल गई। तुम मुझे छोड़कर क्यों चले गए थे? मैं दुर्बल थी, क्या करती? मुझे क्षमा करो।" उसकी वाणी थरथरा रही थी।

"तुम मुझे संसार की समस्त वस्तुओं से प्रिय हो। पर तुम्हारा क्या आशय है? क्या तुमने उसकी हत्या कर दी?"

"हाँ, मैं उसे विष दे आई। अब तक वह मर भी गया होगा।"

एक पल के लिए अजित काँपा, पर फिर संभल गया।

"मैं तुमको एक पल के लिए भी नहीं छोड़ सकता। चलो।"

रेल आ गई थी। दोनों मौन हो गए।

डोरीवाला के स्टेशन पर दोनों उतर पड़े थे। छायादार पेड़ों के नीचे से होते हुए सड़क पर जंगल की ओर बढ़ते जा रहे थे। चाँदनी रात चाँदी की चादर सब ओर बिछा रही थी। उनींदे तारे, उनींदी आँखें, थकान, ठंडी वायु सब उनको निश्चेष्ट से करते जा रहे थे, पर आस-पास कोई मकान दृष्टिगोचर नहीं होता था।

हरी घास पर अजित बैठा था। भारती गोद में लेटी थी। अनोखी तृप्ति उसके मुख को आलोकित कर रही थी। कितना मादक था वह सुख पर कितना क्षणिक।

भारती उठ बैठी, दोनों फिर आगे बढ़े। बस्ती आ गई थी। एक छोटे से मकान में वे दिन भर रहे। अजित ने डर के कारण खिड़कियाँ भी नहीं खोली। चाहता था, उसे ऐसी जगह छिपा दें, जहाँ दुनिया की क्रूर दृष्टि उस पर न पड़े। परन्तु गुनाह छिपता नहीं।

सायंकाल को दोनों फिर आगे बढ़े। एक पुराने खंडहर के सम्मुख एक बैंच पर भारती लेट गई।

"क्या नींद आ रही है ?"

हाँ, देखो, तारे भी कितने उनींदे हैं ? किसी दिन मैं भी ऐसे ही आकाश में, तुमसे दूर, बहुत दूर, पर तुम्हारी याद में छट-पटाती हुई तुमको दीखूँगी। एक बात बताओ, क्या स्वर्ग में मृत्यु के पश्चात् मिलन होता है ?"

अजित का कंठ भर आया था। काश किसी भी तरह उसे बचा सकता।

"मुझे तुम्हारे प्यार की चंद घड़ियाँ ही मिलीं, पर मैं संतुष्ट हूँ। सच अब मुझे किसी बात की आकाँक्षा नहीं रही। बड़ी नींद आ रही है। सो जाऊँ ?"

अजित की गोद में सिर रखे-रखे ही वह सो गई।

प्रातःकाल हो चला था। सर्वत्र आलोक फूट रहा था। सम्मुख एक-एक कर पुलिस की मूर्त्तियाँ दूर से आती दीख रहीं थीं।

अजित समझ गया कि यह अन्तिम मिलन बेला है। विरोध करना व्यर्थ था। उसने संकेत से कहा—"सो लेने दो।"

नींद आप ही टूट गई। स्वप्न भंग हो गया। भारती ने अजित की ओर प्रणय भरी दृष्टि से देखा और उन सिपाहियों से कहा—"मैं तैयार हूँ।"

........जेल के घण्टे ने टन टन कर ग्यारह बजाए। अजित चौंक उठा, ऊपर देखा, जेल पर लगा झण्डा झुका, एक क्षण झुका रहा और फिर ऊपर हो गया।

८६, प्रेमनगर, दयालबाग,
आगरा (यू० पी०)

छोटी बहू जी

(श्री ब्रह्मनारायण शर्मा 'विकल')

उस दिन उस भिखारी को देखकर मेरी आँख में आंसू आ गये, जिसने अपने खाली पेट पर घूँसा लगाकर कहा था—"बाबू इस तरह पेट के लिये लड़की का सौदा करने से तो अच्छा पेट फोड़ लेना है।" और फिर एक करुण दृष्टि से देख, हँसते हुए तमाशगीनों को छोड़ता हुआ आगे बढ़ गया था।

इस समय मनुष्य की इस राक्षसी प्रवृत्ति को देखकर मेरा मानस कांप उठा था और हृदय में एक वाक्य गूँज गया—"हाय! मेरा शहर और मेरा वह विद्यार्थी-जीवन न हुआ जब मेरे अकेले में दो को उलटने की ताब थी, नहीं तो इस बदमाश का मुँह तोड़ देता।"

संसार की इस दुष्प्रवृत्ति से आहत हृदय में एक करुण वेदना छिपाये मैं उन क्षुद्रों की ओर एक घृणा की दृष्टि से देखता हुआ आगे बढ़ गया। भिखारी अपनी उस दयनीय कन्या को लिये मेरे आगे आगे जा रहा था और मेरी बड़ी जिज्ञासा बढ़ रही थी कि मैं इस महात्मा के बारे में इससे कुछ पूँछूं। किन्तु साथ-साथ मुझे भय भी लग रहा था कि इस समय कुछ भी पूछने पर यह महा-पुरुष मुझे अवश्य कुछ न कुछ खरी-खोटी सुना देगा, क्योंकि मेरे वस्त्र भी साफ-सुथरे उन कोषाधीशों जैसे हो रहे थे, जिनके प्रति सम्भव है, वह घृणा का भाव लेकर शीघ्रगति से आगे बढ़ता जा रहा था।

भिखारी की कन्या बड़ी तेज़ और चंचल थी, जिसके मुख-सौन्दर्य को मैं अभी तक न निरख पाया था। वह चलती हुई अपने पिता से बार बार कहती जाती थी—"दादा रोते क्यों हो? कहने से कुछ लग थोड़े ही जाता है! ये बदमाश तो ऐसे होते ही हैं।"

मैं यह सब कुछ उनके पीछे-पीछे सुनता हुआ चल रहा था। मेरे हृदय में इस समय इस चंचल बालिका के मुखाकृति को देखने की एक प्रबल इच्छा न जाने क्यों बलवती हो उठी थी, किन्तु कोई युक्ति समझ में न आ रही थी।

मेरी दृष्टि ठीक उन दोनों के पीछे लगी हुई थी जैसे उस बार पैठ कर मेरी हृदय की समस्या के हल करने का प्रयत्न कर रही हो। वैसे मेरे हृदय में चलते राहियों के प्रति भी ध्यान बना हुआ था। अकस्मात् बालिका एक ओर घूमी, मैंने देखा एक महाशय अपनी मोटरकार से उतरे हुये लँगड़े-लूले अपाहिजों और भिखारियों को बड़े शाहदिली से पैसे बाँट रहे थे। इस बार मुझे उस पवित्र हृदया निष्कपट बालिका का सौन्दर्य और लावण्य से युक्त चन्द्र-ज्योति-मय आनन स्पष्ट दिखाई पड़ा। वास्तव में एक विचित्र आकर्षण था। वह अधर, जिन्हें प्रकृति या विधाता ने जन्म देते समय कुछ ऐसा गढ़कर भूतल पर भेजा था जो बिना चेष्टा के ही मुस्कुराते प्रतीत हो प्रवृत्ति या विधाता की अतुलनीय सहानुभूति का बरबस परिचय दे दें। सचमुच लगते तो वैसे ही थे, किन्तु दरिद्रता के आवरण से वे कुछ अस्पष्ट से अवश्य हो गये थे और लम्बी बड़ी आँखें जिनमें जैसे आकाश की छाया पड़ रही हो, ऐसी लगती थीं जैसे किसी दयालु की कृपा को अर्से से निहारती-निहारती उदास हो गई हैं। मैं इस विचित्र धवल सुन्दरता को करुण भाव से नेत्रों में भरे कई क्षण तक खोया रहा। कभी दाता की निरर्थक कृपा को भूल समझ कर उसपर मन ही मन हंसता,

कभी संसार की अकृपामयी दृष्टि को सोच-सोचकर आँखों में आँसू आ जाते। इस तरह कई क्षण बाद जब ध्यान टूटा तो मेरी दृष्टि पुनः बालिका की ओर खिंच गई और मेरे पग स्थिर हो गये। मैंने सोचा, वह चल पड़े तो मैं भी चलूँ।

सेठ जी को पैसा बाँटते हुए देखकर बालिका तीव्र वेग से-"बाबू जी मुझे भी, बाबू जी मुझे भी!" कहती हुई इधर झपट रही थी। बाप पीछे रह गया था। संभव है उसके हृदय में इतना क्षोभ और घृणा भरी थी कि पैर उस धनाधीश की ओर बढ़ने में असमर्थता प्रकट कर रहे थे। सेठ जी ने बालिका का स्वर सुनकर जो घूम कर देखा तो वह स्थिर रह गये। मुझे मन ही मन हँसी आ गई। मैं समझ गया कि इस वयोवृद्ध सेठ के हृदय में पाप नहीं, किन्तु फिर भी वे इस काम-युक्त सौन्दर्य के आगे पराजित हैं। उन्होंने एक क्षण रुक कर कहा—"लो बेटी!" बेटी शब्द सुनकर मेरा कौतूहल और बढ़ रहा था, क्योंकि मैं उनकी वास्तविक परिस्थिति को पूर्ण रूप से पहचान गया था और समझ गया था कि बेचारा अज्ञानता के मध्य आहत हुआ है। इस बालिका की चंचलता का ज्ञान मुझे उस समय हुआ था, जब उसने बड़े सहज स्वभाव से मुँह बनाकर कहा था—"मेरा हाथ इधर है और ताक न जाने किधर रहे हैं?" सेठ जी की आँखें इस समय पूर्ण रूप से खुली बालिका के मुख-सौन्दर्य का रसास्वादन कर रही थीं। सेठ जी ने जैसे चौंककर आधा पोपला मुँह खोलते हुए कहा—"अरे ये तो बड़ी ढीठ है।" सेठ जी की इस विचित्र हँसी से ही मैं समझ गया कि उनकी तृप्ति हो गई।

अब बालिका फिर बाप की ओर मुड़ती हुई आगे चल पड़ी और मैं पुनः पीछे-पीछे चल दिया। लगभग दो फर्लांग और चल कर बालिका ने चहल-पहल से मुक्त सुनसान मार्ग के एक वृक्ष

के नीचे रुकते हुए कहा—"दादा, अब तो बहुत थक गये हैं, जरा दम ले लें तो चलें; घर तो अभी बहुत दूर है !"

इतनी दूर पीछे-पीछे चलते मुझमें साहस पर्याप्त मात्रा में एकत्र हो चुका था। चाहे आप यह कहें कि मैं इच्छा को नहीं रोक सका। मैंने भी पेड़ के नीचे रुकते हुए कहा—"लो बाबा यह चवन्नी लो !" बुड्ढा मेरी ओर एक बड़ी दयनीय दृष्टि से निहारने लगा। उसने सजल नेत्रों से कहा—"तुम्हारा भला हो बेटा !" इतना सुनकर मेरा साहस और बढ़ा। मैंने साहस करते हुए पूछा—"बाबा बजाजावाली गली में क्या बात हो गई थी ?" बुड्ढा यह शब्द सुनते ही फूट कर रो पड़ा—"बेटा, यह दुनिया बड़ी पापी है, भीख देकर वह मेरी बच्ची की इज्जत लेना चाहती है !" यद्यपि यह सब कुछ मैं सुन चुका था, किन्तु इस बार भी सुनकर मुझमें उतनी ही करुणा पुन: जागी। मैंने कहा—"बाबा, तुम लड़की को लेकर न घूमा करो। सयानी लड़की है !" मैंने इस बार बालिका की ओर घूम कर देखा। वह बड़ी लज्जामय दृष्टि से मेरी ओर निहार रही थी। मेरे नेत्र पुन: बाबा की ओर घूम गये। वे उत्तर दे रहे थे—"क्या करूँ बेटा, वहाँ भी तो बद-माश चैन से नहीं बैठने देते, पैसे से वे मुझे ठगना चाहते हैं !" मैं इस बार पूर्ण रूप से समझ गया कि दुनिया के लुच्चे महाजन पूरी तरह से बाबा के पीछे लगे हुए हैं। मैंने इस बार कुछ सोच कर धीरे से कहा—"बाबा अगर बुरा न मानो तो वहाँ से मेरे वहाँ चले आओ। मैं एक कोठरी तुम्हें दे दूँगा और शायद काम भी दिला दूँ।" इस बात पर बुड्ढा मेरी ओर आँख फाड़कर देखने लगा—"क्या सच बेटा ?" मैंने उसी मुद्रा में कहा—"सच बाबा ! लड़की हमारी माँ बहनों के बीच में गुन सीख जायगी और तुम्हें काम मिल जायगा।" बुड्ढे ने इस बार एक लम्बी साँस लेते हुए कहा—"हां बेटा, अगर इतना हो जाता तो बच्ची भी पार

घाट हो जाती ! नहीं तो कौन जाने......!" इस बार मैंने पुनः बालिका की ओर देखा उसका सिर झुका था और उसकी आंखों से आंसू टपक रहे थे। मैंने बाबा की ओर देखते हुए कहा—"देखो यह रो रही है बाबा !" बुड्ढे ने बालिका को गोद में चिपटाते हुए कहा—"ना बेटा शोभा, रो मत ! देख तुझे अब कितने अच्छे बाबू जी मिल गये हैं।" इस बार बालिका ने और लम्बी सिसकी भरी। मेरा भी हृदय इस अज्ञात रहस्य-मय वेदना को देखकर भर आया। मैं कुछ ठीक से समझ भी न सका। मैंने साहस करते हुए कहा—"रो मत शोभा, अब तुम्हें कोई दुख नहीं होगा।" किन्तु बालिका रोती ही रही। इसके पश्चात् मैं अधिक न ठहर सका और बुड्ढे को घर का पता देकर घर चला आया।

× × ×

दूसरे दिन प्रातः के सात बजे थे। मैं कुछ एक इज़ी-चेयर पर लेटा सोच रहा था कि इतने में वीनू चाय लेकर आ गई। मैंने वीनू की ओर दृष्टि उठाकर देखा, तो देखा, उसकी आंखों में आंसू भरे थे। मैंने पूछा—"क्या बात हुई वीनू ? तुम सुस्त क्यों हो ?" इस पर उसका यह निःसंकोच सरल मुद्रा में उत्तर सुनकर तो मेरी मुद्रा ही बदल गई—"बड़े भैया को चाय लिये जा रही थी तो भाभी ने आकर मुझे झिड़क दिया और कहा—"चाय मैं वहां पहुँचा दूँगी तू बस छोटे भैया को दे आया कर !" मैं इस समय बात की पूरी गहराई तक पहुँच चुका था। इससे मैं समझ गया कि इसमें गलती वास्तव में किसी की नहीं थी, वरन् मैं बिगड़ता जरूर, क्योंकि वीनू मेरी बड़ी प्यारी बहन है। मैंने उसी मुद्रा में बात बनाते हुए कहा—"अच्छा तो है, तू कोई नौकरानी है !"इस पर वीनू ने उसी मुद्रा में आंख मलते हुए कहा—"हूँ, भैया का काम करना कोई नौकरी है।" बात दर असल

उसने सच कही थी, परन्तु फिर भी मैंने उसे समझाने के लिये अपनी ओर खींचते हुए कहा—अरे पगली, मुझे देख भैया-भौजी किसी की नहीं सुनता यों क्या वे मेरे भैया नहीं ? या जब मेरी ही जरूरत पड़ेगी तो करूँगा नहीं ? लेकिन यों बेकार के लिये छोटी-छोटी बातों में कोल्हू के बैल की तरह जुते रहने में क्या फायदा ?" इस पर वीनू ने बड़ी सोचनीय मुद्रा बनाते हुए कहा जैसे जिती जिताई लाटी हाथ से निकली जा रही थी—"लेकिन भैया..........." मैं इतने से ही समझ गया और बीच में ही टोकता हुआ बोला—"समझा तेरी रोज की चवन्नी ।" इस समय मुझे वीनू पर बड़ा प्यार आया। सोचा कितनी भोली है, आज उसकी उम्र चौदह वर्ष है, किन्तु वह संसार से कितनी दूर ? मुझे तरस आया—काश वह समझती होती तो इस बात पर बुरा न मानती और यह भी न समझती कि भाभी ने उसका अधिकार छीना है यह तो उन्हीं का था और उन्हें ही करना था वह इतना भी नहीं समझी कि जो बहन का प्रेम भाई के हृदय में है वह उसका ही है, उस पर भाभी का क्या अधिकार ? मैंने उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा—"अच्छा देख तुझे अगर भैया ने तेरा हक नहीं दिया तो मैं तुझे एक चवन्नी और दूँगा।" इतना सुनते ही वीनू की रोती हुई आँखें हँस पड़ी और वह मुझसे यह कहती हुई लिपट गई—"भैया तुम कितने अच्छे हो, भैया तुम कितने अच्छे हो।" मैंने उसे प्यार किया और एक चवन्नी निकालकर उसके हाथ पर धर दी और दूसरी चवन्नी का भैया के न देने पर देने का विश्वास दिला कर उसे बहला दिया। वीनू चली गई। मैं सोचता ही रहा—वीनू मेरे पास बहुत बैठती है—बातें करती है—कहानी सुनती है, किन्तु जब उसकी छोटी भाभी आ जायेगी और उसके उस अधिकार में उसे लेश मात्र भी कभी शिथिलता प्रतीत होगी तो वह मुझसे भी चिढ़ जायेगी और मुझे

भी बुरा समझेगी। मेरी आँख में इतना सोचते-सोचते आँसू आ गये। वीनू की ना समझी का मुझे दुख हो रहा था। मैं सोचने लगा, जब तक वीनू समझदार न हो जायेगी मैं विवाह नहीं करूँगा, किन्तु फिर मुझे यह प्रतिज्ञा पक्की न दिखाई पड़ी। मैं यही सोच रहा था कि वीनू उस बुड्ढे भिखारी के आने का संदेश लेकर दौड़ती हुई आई। संदेश सुनते ही मैं वेग से उठ बैठा और बाहर की ओर बड़े वेग से गया जैसे प्रतीक्षा ही कर रहा था।

देखा बुड्ढा और वह बालिका दोनों सिर पर अपना टीमटाम उठाये बाहर फाटक पर खड़े थे। मैंने बुड्ढे को बड़े प्यार से अन्दर बुलाया, बालिका ने मेरी आवाज़ पहचान ली। उसने आगे बढ़ते हुये बड़े मोहक ढंग से कहा—"बाबू जी।" मैंने देखा बोझ से दबा हुआ वह कमनीय मुस्कुराता आनन प्रसून मुर्झाया जा रहा था। पशुता का व्यवहार मुझसे न वर्ता गया। मेरे हाथ बरबस बढ़ गये और मैंने उसके बोझ को नीचे उतार लिया। बालिका निश्चिन्त सी सिर झटककर खड़ी होती हुई बोली—"बाबू जी बहुत थक गई।" उसके इस वाक्य में न पीड़ा का भाव था, न उलाहने का! फिर किसको पीड़ा दिखाती और किसको उलाहना देती? क्या बाप को, जो उससे दूना बोझा लादे अब भी खड़ा था। बालिका ने पीछे घूम कर देखते हुये कहा—"दादा, तुम भी रख दो न!" बाप ने बड़े ही सहज भाव से उत्तर दिया—"नहीं बेटी, बार-बार रक्खें, बार-बार उठायें, इससे लाभ? जहाँ बाबू जी बतायें इकट्ठा ही रख दूँ। और तू भी बोझा उठाले, कोई नौकर थोड़े ही बैठा है।" इसके बाद बुड्ढे ने मेरे कुछ कहने से पहले ही मेरी ओर देखते हुये कहा—"हां बाबूजी कहाँ रक्खें?" बालिका ने बाप की बात सुनकर बोझा उठाना ही चाहा कि मैं फिर बोल उठा—"नहीं बाबा, इसका बोझा नौकर उठायेगा। शोभा बहुत थक

गई है, देखो न मुँह लाल हो रहा है!" इस पर शोभा जैसे सुन्न हो गई — "अब उसका बोझा नौकर उठायेगा ?" उसको जैसे कानों पर विश्वास नहीं हुआ। वह एक क्षण रुककर बोली —"बाबूजी नौकर!" मैं उसका भाव न समझ सका और मैंने कहा —"हाँ शोभा अभी मैं मँगलू को बुलाता हूं।" इतना कहकर मैंने मँगलू को पुकारा। मँगलू के वस्त्र समता में शोभा से अधिक स्वच्छ थे। वह इसे देखकर सिहर उठी— "नहीं बाबूजी बोझा बहुत है यह न उठा पायेंगे।" इस विचित्र वाणी ने मेरे हृदय पर जैसे एक हथौड़ा सा जड़ दिया और मेरी आत्मा कराह उठी। मुझे इस समय बालिका की दीनता रसा-तल तक खींच ले गई। एक क्षण रुक कर मैंने उसकी ओर देखते हुए कहा —"नहीं शोभा, मँगलू उठा लेगा और आओ तुम्हें घर दिखा दें और सबसे मिला दें। सामान मँगलू और बाबा ठीक से रख देंगे। मँगलू को कमरा पता है।" चलते हुये एक बार मैंने बाबा की ओर देखा। बाबा की आखों में न जाने कहाँ का सुख समा गया था। मैंने उनसे पूछा—"मैं इसे ले जाऊँ बाबा ?" बाबा ने बोझ-भार से दबे हुए गले से कहा—ले जाओ बेटा, ले जाओ। इस समय उनके नेत्रों में मेरे प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास झलक रहा था, जिसने मुझे एक चेतावनी सी दे दी थी कि मुझे जीवन भर उनकी श्रद्धा और विश्वास के साथ बँधा रहना है। इसे देखकर एक क्षण के लिये मैं चौंका भी था।

× × ×

हमारी माँ बड़ी ही दयालु प्रकृति की थीं, फिर शोभा के स्व-भाव और चंचलता से तो वह न जाने कितना उसपर रीझ गई थीं। शोभा काम में उनका हाथ बटाने लगी थी। उन्हें पता चला था कि वे ब्राह्मण थे, इससे वह और खुश थीं, क्योंकि वे पुरानी होने के कारण अपने मन से सब कुछ तो निकाल गई थीं। किन्तु

खानपान की छुआछूत न निकाल पाई थीं। एक दिन मैं कमरे में बैठा था, बीनू चाय लेकर आई। इतने में शोभा भी कमरे में आ गई। शोभा ने मेरे जीवन में विचित्र रूप से प्रवेश करती जा रही थी यद्यपि कभी भी मेरे सामने उसका अश्लील प्रेम आज तक न झलका था और न मैंने और न उसने कभी इसका अवसर ही आने दिया था, किन्तु उसके वेदना-पूर्ण जीवन से मुझे सदा सहानुभूति रही थी और सम्भव है यही एक कारण था कि वह मेरे हृदय के निकट मेरे अनजाने में ही बढ़ती चली आई थी। शोभा मुझसे कैसा प्रेम करती थी? इसको अविवेक पूर्ण ढंग से कहने में उसकी मर्यादा पर आँच आती है, इससे उसको जरा ढंग से कहना पड़ेगा। शोभा मेरे उस अगाध प्रेम को, जो मैंने उसके लिये अपने हृदय में भर लिया था, अच्छी तरह परचित हो गई थी। इससे उसके हृदय में मेरे प्रति इतनी संभवतः श्रद्धा हो गई थी कि वह मेरे अतिरिक्त किसी और को भी प्यार कर सकती है, इसे जैसे वह सोच ही नहीं पाती थी, किन्तु उसकी कभी-कभी की गीली आंखों से, जिसका अर्थ मैं बहुत बाद में समझ पाया, मुझे ऐसा पता लगता था जैसे वह मेरे अधिक निकट बढ़ने में कोई कारण सोचकर भयभीत हो जाती है जबकि उसके हृदय में मेरे प्रति अथाह प्रेम था। मैं अविवाहित था, यह बात उसके लिये सरासर सुखद न थी, बल्कि यह उसके मानसिक संतुलन में अशांति पैदा कर देने का एक कारण भी हो गयी थी। वह संभवतः सोचती थी कि यदि वह मेरे जीवन में आयेगी तो मेरी कुल मर्यादा कलंकित होगी, जैसा करना उसकी क्षुद्रता है। इस समय उसने बीनू को हाथ में चाय लिये हुये देखकर कहा—"तुम बीबी काहे को मेहनत करती हो, कल से मैं चाय ले आया करूँगी।" बीनू को जैसे यह शब्द बहुत अखर गये। उसने चिढ़ते हुये कहा—"बड़ी चाय लाने वाली! चाय तो भैया को मैं ही लाया

करूँगी। तू लायगी तो तेरा प्याला तोड़ दूँगी।" शोभा इतनी बात सुनकर सुन्न होकर सहमी हुई एकटक बीनू की ओर देखती रह गई। इस समय मेरे नेत्रों के सामने विचित्र दृश्य नाच गया। न मैं किसी को डाँट सकता था, न समझा। थोड़ी देर रुककर मैंने समस्या हल करते हुये कहा—"पगली, शोभा तेरा हक थोड़े ही मार रही है। उसने तो तेरी मदद के लिये कहा। हाँ, यह तो बताओ, भैया तुझे चवन्नी देते हैं या नहीं?" इस पर शोभा लजा सी गई। जैसे उस दिन का गुस्सा उसका बेकार था। लजीली मुस्कान के साथ उसने कहा— "देते हैं भैया! और कहते थे तू कुछ मत करा कर! बस तू सिर्फ पढ़ा कर, काम सब भाभी करेगी। तू तो रानी है, कोई नौकरानी थोड़ी।" मैं बीनू की बात सुनता जा रहा था और उसका मुंह देखता जा रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे वह भैया की बातों से इतना खुश है जितना संभव है मैं कभी न कर सकूँगा। मैंने इसी समय चट मौका समझते हुये शोभा की समस्या हल कर ली, मुझे भी सच-मुच अब शोभा के हाथ से चाय पीने की इच्छा हो गई थी। जैसे हृदय का छिपा हुआ भाव उभर आया हो। मुझे ऐसा लगा जैसे मैं अभी तक अनजाने में जो शोभा के प्रति प्रेम छिपाये था वह एक प्रेमी प्रेमिका का प्रेम था, उसमें प्रणय का भाव था। मैंने कहा —"तो देख बीनू भैया ठीक तो कहते हैं। हां अब तू बेकार हलकान मत हुआ कर! भाभी भैया को चाय पहुँचा देंगी और शोभा मुझे। तू सिर्फ पढ़ा कर! अबकी फर्स्ट आना तो तुझे रेस्ट वाच इनाम दूँगा।" बीनू मेरी बात सुनकर मारे खुशी के नाचने लगी। मुझे आज उस पर न जाने कितना प्यार आ रहा था। मैंने बीनू की ओर देखते हुए कहा—"बीनू आज से तुझे आठ आने रोज मिलेंगे।" बीनू आठ सुनते ही दौड़कर

मुझसे लिपट गई। मैंने एक अठन्नी उसके हाथ पर धर दी और कहा—"अच्छा जा अब पढ़ !"

शोभा एक कोने में बैठी गुम-सुम यह बातें सुन रही थी। बीनू के चले जाने पर मैंने उसे बुलाया। वह उठकर मेरे पास आ गई। मैंने देखा शोभा की आंखें भरी थीं। मैंने उसकी ओर देखते हुये पूछा—"क्या बात है शोभा ?" वह रोने लगी। मैं इस समय कारण बिलकुल न समझ पा रहा था। मैंने उसका हाथ पकड़ते हुये पूछा—"क्या बात है शोभा ?" उसने अपने को बहुत सम्भालते हुए कहा—"बाबूजी मैं चाय नहीं लाया करूँगी और कुछ भी कर सकती हूँ। मैं चौंक पड़ा—"क्यों क्या बात है ?" उसका गला रुँधा हुआ था, उसने उसी स्वर से कहा—"नहीं बाबू जी, मुझे अब तक पता नहीं था कि चाय कौन लाता है।" मैं शोभा की बात सुनकर जोरों से हँस पड़ा और बोला—"अच्छा बता कौन लाता है ?" शोभा शर्मा गई। मैंने फिर पूछा तो उसने रुकते रुकते कहा—'जब छोटी बहू जी आयेंगी तो आप को देंगी।" मेरी आंखें शोभा की आखों से एक दम मिल गईं। कितना दर्द था उन आखों में ? मैंने कहा—"नहीं शोभा जब तुम आ चुकी हो तो अब कोई भी बहू इस घर में नहीं आयेगी।" शोभा चीख पड़ी—"बाबू जी !"

भारतीय विद्यापीठ
चौक, महानारायण बाग
लखनऊ

परकटी तितली

(श्री शिवप्रसाद सिंह)

वर्षा से धुली काली सड़क पर मोटरों की बत्तियों का प्रकाश पिघली चाँदी की लहर की तरह बिछल उठता। आसमान में काले-काले मेघों के हृदय को फाड़कर इक्के-दुक्के तारे झाँकते, पर उसकी कालिमा वैसी ही भयानक थी। मैं चुपचाप सड़क की बाईं पटरी से चला जा रहा हूँ, पर मन तूफान में कटी पतंग-सा उस पीछे छूटे हुये मकान के पीछे चक्कर लगा रहा है जिसे मैं अभी छोड़ आया हूँ।

बात ही कुछ विचित्र है। आज सुबह से ही कुछ अनमना रहा। दोपहर होते-होते जैसे चढ़े फागुन की उदासी ने नस-नस में एक थकान सी भर दी। और जब लाख कोशिश करने पर भी मन न लगा सका तो हाथ के उपन्यास को टेबुल पर फेंक दिया और झटके से तकिये को खींचकर उसकी मुलायम ठण्ड में जी बहलाने की कोशिश की।

बाहर निकलकर आया देखा दोपहर का धमाका सूखी डालों में आसन जमाये बैठा है। बड़ा उदास सा मौसम, तीखी धूप, रह-रहकर पागल-सी दौड़ पड़नेवाली हवा के बेरहम थपेड़ों से अनायास निखरतीं पत्तियाँ, फूलों पर आवारा-सी मँड़राती मधु-मक्खियां, और इन सबसे अलग-अलग कुछ सुनने की मुद्रा में खड़ा विशाल पीपल का पेड़, जैसे यह सारा दृश्य इस बीतराग योगिराज के लिए बिल्कुल बेमानी है। उनसे उसका कोई मतलब

नहीं। शाम हुई। बड़े अरमान से घूमने के लिए बाहर निकला तो बारिश शुरू हो गई।

जाड़े की बारिश में भीगना यों भी अच्छा नहीं लगता, दूसरे हवा भी तेज थी। सड़क के मोड़ पर बूँदी महाराज की एक कोठी है। सामने की सड़क काफी चौड़ी है। कई बार जब रिक्से से इस सड़क से गुजरा हूँ, तारीफ के पुल बांध चुका हूँ। सचमुच इतनी चौड़ी और विचित्र स्थिति की सड़कें कम मिलती हैं।

एक ओर बूँदी-कोठी की दो पुरसा ऊँची चहार-दीवारी, जो सड़क के मोड़ के साथ ही दो फर्लाङ्ग तक पश्चिम बाहिनी गंगा की कगार की तरह, कमान के आकार की, झुकी हुई चली गयी है और दूसरी ओर लम्बे शिरीष के पेड़ हैं, जिनमें लम्बे-लम्बे फल लटकते हैं, पिटे स्वर्ण-पत्र को बनी तलवारों की तरह। मगर इस समय यह पूरा दृश्य बड़ा ही बुरा लगा।

मैंने जी भर कर उस कोठी को कोसा जिसकी सर्वग्रासिनी चहार-दीवारी के कारण न तो कोई अन्य मकान ही मिल सकता था और न तो उसके भीतर घुसकर कोठी में ही पनाह ले सकना सम्भव था।

आगे एक मकान मिला। लाल ईटों की दीवारें, जिन पर जगह-जगह जमी हुई काई और धूल के मिश्रण से बनी एक काली खुरदरी-सी पर्त पड़ गई थी, लगता था, जैसे अपने मालिक की असावधानी का दुलार कई वर्षों से सँभाल रही हैं। दरवाजे के सामने टीन की एक छाजन थी, जो लकड़ी के दो खम्भों पर टिकी दरवाजे के ढाँचे को बचाये थी, जिसकी वजह से उसके खम्भों और वार्निस की सीमेण्ट की पर्त्त ओदर कर गिर जाने से बच गई थी। मैं चुपचाप उसी छाजन में एक ओर खड़ा हो गया। पुरवा की दहाड़ मारती बौछार का सन्नाटा और आकाश में पीले-

पीले साँप सी उमड़ती हुई बिजली की कड़कड़ाहट उस गरीब छाजन को चौंका देती। मेरे कोट-पैन्ट का बहुत सा हिस्सा उस बौछार की नमी से ही भींग गया। इस कोने से हटकर उस कोने में खड़ा हुआ, पर वहाँ भी बौछार का एक सा अधिकार था। लाचार मन मारे उस लकड़ी के खम्भे की आड़ में खड़ा रहा जो ऊँचाई में मेरे सिर से बराबर था और जिसके एक भाग से मेरा सिर बिल्कुल छू जाता था, जहाँ तीखी बौछार की तड़तड़ाहट गूँज रही थी। एक बड़ी भयङ्कर आँख झँपा देने वाली चमक के साथ कड़ाके की आवाज हुई और पड़-पड़ पड़-पड़ करके ओले गिरने लगे। मैं डर कर एक ओर लपका तभी पीछे से आवाज आई, "आ जाइये भाई साहब भीतर, क्यों भींगते हैं ?"

"धन्यवाद !" मैं चुपचाप उस आवाज की ओर लपका। उसी पुराने सीमेंट वाले खम्भे को छूता उसके अनजाने रहस्य को छूकर भाँपने की कोशिश करता मैं फाटक में हल गया। उसने दरवाजा बन्द किया। सीढ़ी के पास एक बल्ब था जिससे मुश्किल से मोमबत्ती जैसा हल्का प्रकाश फैल रहा था, जिसमें मैंने देखा, उस कोठरी में एक ओर ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी हैं सीढ़ियों के बीच खाली जगह में पुराने बोरे का एक टुकड़ा, दो चार टूटी-फूटी ईटें,और एक टूटे, मुर्चा लगे,लोहे का टुकड़ा पड़ा था बगल में एक हाँडी थी, उँह होगा कुछ उसमें भी मैं चुपचाप उसके पीछे-पीछे सीढ़ियों पर चलता रहा। सीढ़ियाँ जहाँ खत्म हुईं, वहाँ एक फाटक था, हरा, जिस पर नई नई वार्निश की गई थी। फाटक के सामने जूट की पाँवदान थी। उसने दरवाजा खोला, आइये बैठ लीजिये थोड़ी देर, जल्दी बारिश थमने की तो कोई उम्मीद नहीं मालूम पड़ती।'

"जी हाँ, बुरी तरह फँस गया।" मैं पास के सोफे पर बैठ गया। कमरा चौड़ा था, जिसमें उसी के नाप की मोटी पर्त की

रंगीन दरी बिछी थी। एक तरफ दीवार में सोफासेट था। सामने एक छोटी-सी अठकोनी मेज थी, जिसपर एक मिर्जापुरी मिट्टी के गुलदस्ते में, मुरझाये हुये, निर्गन्ध अंग्रेजी फूल थे। मेरे सामने रक्खी एक कुर्सी पर वह बैठ गई। मैंने उस चमकते हुये बिजली के प्रकाश में देखा, वह एक बीस-बाईस वर्ष की तरुणी थी। रंग साफ था। उसके इकहरे शरीर पर सफेद साड़ी थी जो पतली थी और इतने सधे हाथों पहनी गयी थी कि शरीर के प्रत्येक उभार के साथ जैसे उसका पुराना समझौता था, बिल्कुल ठीक ठीक चस्पा, न ढीला ढाली न चुस्त। साड़ी के नीचे जो ब्लाउज था, लगता, वह भी सफेद ही है क्योंकि साड़ी के मेल में उसके रंग की कोई भिन्न पहचान न थी। हाँ उसी आकार में साड़ी का उस हिस्से का रंग भी गहरा सफेद जरूर था जो नीचे सफेद ब्लाउज की ही सूचना देता था।

लम्बी-लम्बी उँगलियों को आपस में उलझाती हुई वह मेरी ओर घूमकर बोली, 'कहाँ रहते हैं, आप ?'

मैंने एक बार उसके चेहरे को देखा जो सुन्दर था। बहुत भड़कीला सजा-सजाया नहीं। कुछ उतरा हुआ पीला-सा। उसकी उँगलियों में, एक में चमकीली अँगूठी थी, जिस पर बिजली का प्रकाश चमक कर जल उठता था।

"जी, देवपुरे में।" मैंने धीरे से कहा। और लगा जैसे कुछ और कहना चाहिए। मैंने उसके चेहरे पर देखा शायद वह कुछ और सुनना चाहती हो। उसके पतले होंठ सावधानी से चिपके हुये, निर्भाव पड़े थे जिनमें किसी आकांक्षा का खिंचाव न था, किसी लालसा की सजगता न थी। एक उचाट, उदास, मौसम की थकान थी जो इस कड़कती बरसात में बड़ी अनोखी लगी।

"इधर कहाँ से आ रहे हैं आप ?" उसके शब्द गोया योंही निकल पड़े थे। सच कहता हूँ इस सवाल के बाद भी जैसे उसे उत्तर

पाने की कोई आकांक्षा न थी। सामने एक आदमी बैठा है, जिसके अस्तित्व का बोझ वातावरण में भिन्नता उत्पन्न करता है, इसलिये उससे कुछ कहना चाहिए, सभ्यता की, आपसी व्यवहार की रक्षा के लिये उसने पूछ दिया। अपने शब्दों के लिये उसे कोई ममत्व नहीं। उनका उत्तर मिलेगा या वे निरुत्तर कमरे की दीवारों से टकराकर लौट आयेंगे, इसकी भी उसे क्या चिन्ता। उसके उत्तर में मैं जो कुछ कहूँगा तो सुन लेगी और यदि सभ्यता के तकाजे ने इसके मन के किसी हिस्से को स्पर्श किया तो फिर और कुछ पूछ लेगी, वरना चुप बैठी रहेगी—'जी, ऐसे ही घूमने आ गया था।' मैंने कहा और उसके चेहरे की ओर देखा, जिस पर उत्तर सुनने का नहीं, पास रखे गुलदस्ते में कुछ ढूँढ़ने का भाव था।

सामने दीवार पर लम्बी तस्वीर थी, मैंने उसे देखकर पूछा, 'क्यों! यह तस्वीर आप की बनाई हुई है?'

उसने एक गम्भीर साँस लेकर कहा, 'जी हाँ!' सामने एक पहाड़ी दृश्य था। ऊँचे ऊँचे भूर्ज के पेड़। उस ऊँची पहाड़ी पर साँप की तरह घूमती हुई चिकनी पगडंडी, जो उसे विशाल शिवलिंग की तरह अपने गुंजलक में लपेटे जा रही थी। पगडंडी से दो छायायें चली आ रही हैं, काली-काली छायायें। एक के शिरोभाग से बिखर कर एक पतली स्याही की लकीर, जो शायद हवा में उड़ती लट थी, पूरी मानवी छाया को समेट कर, एक काली महीन साड़ी का लहरदार घेरा, जो कहता था उन दो छायाकृतियों में एक औरत है, जो थकी है, चलने में असमर्थ है और जिसे अपने हाथों का सहारा दिये एक पुरुष लिये जा रहा है। मैं एक टक उस छाया-चित्र को देखता रहा। उस समय वह बड़ी चंचल सी हो गई।

मैंने पूछा, 'आपने यह चित्र कब बनाया था?'

उसने कुछ कहा नहीं, वह हिली-डुली भी नहीं। उसके उदास चहरे की सजीव सीप-सी आँखों में एक चमक सी उठी जिसे देखकर मैं अचकचा गया। वह मेरे चेहरे पर एक टक देख रही थी निश्चल, मूक भाव से। मन की किसी मरोड़ ने जैसे उस चेहरे की ओर देख सकने की पूरी ताकत छीन ली। पर चेहरे की वह विवर्णता मुझे बहुत अच्छी नहीं लगी, जो मेरे प्रश्न के साथ घनीभूत होकर फैल गई थी। लगा, जैसे यह प्रश्न करके उसे दुःख दिया है। क्षमा माँगने के भाव से मैंने कहा, "मुझसे शायद कोई गलती हो गई। मैंने आपको किसी प्रकार का दुःख देने के भाव से यह प्रश्न नहीं किया।"

"न न, इसमें दुःख-सुख की क्या बात! आपने शायद गलत समझा।' वह विश्वस्त शब्दों में बोली, 'किसी चित्र के बारे में ऐसी जिज्ञासा होती ही है।" लेकिन मुझे लगा जैसे उसके चेहरे पर अभी अभी जो विश्वास का रंग शीशे पर पड़ी रोशनी सा कौंध उठा है, उसमें कुछ भी ढूँढ़ लेना मुश्किल है पर उस चकाचौंध करनेवाली पानीदार रोशनी के पीछे कुछ और ही भाव है जो असली है।

वह मुझे और भी आश्वस्त करती हुई बोली, "यह चित्र मैंने मसूरी में बनाया था अपनी शादी के साल। आज से करीब तीन साल पहले। आप जानते हैं, मंसूरी कितनी सुन्दर जगह है। वहाँ की पूरी रौनक किसी भी आदमी को कुछ कर सकने की ओर प्रेरित करती है। उन्हीं दिनों मन में आया एक तस्वीर खींच लूँ। यह आपको अच्छी लगी, यह जनाकर सचमुच मैं खुश हूँ।" और फिर उसके चेहरे पर वही भाव छा गया जिसका अर्थ था मेरे अस्तित्व की ओर से बिना झिझक खिंच जाना और एक हल्के टुकड़े की तरह वातावरण में चक्कर काटते डूब जाना। वह फिर उसी गुलदस्ते पर ताकने लगी थी।

सहसा वह उठी। "मैंने आपको यों ही बातों में बहलाया। जरा चाय पी लीजिये।"

और मेरे बार-बार मना करने पर भी वह बगल के कमरे में चली गई। मैं कुछ देर तक अकेले बैठा उस प्रसंग पर सोचता रहा। ध्यान से मैंने देखा, उस सजे सजाये कमरे में सीढ़ियों के पास वाले दरवाजे को छोड़कर दो दरवाजे और थे। एक से, आकार के हरे-हरे, चमकती हुई वार्निश से रंगे। एक दरवाजे को खोलकर वह गई है, वह सामने पश्चिम की दीवार में है और दूसरा मेरे बायें हाथ की ओर दक्खिन की दीवार में। दक्खिन वाले दरवाजे के पास एक तानपूरा रखा है जो लाल कपड़े की खोली में बन्द है।

वह चाय लेकर आई। टेबुल खींचकर सब सामान रख दिया। मैंने उससे भी चाय पीने का आग्रह किया तो बोली, "जी मैं चाय नहीं पीती।" और चुपचाप बगल वाले सोफे पर बैठ गई। कोई चाय न पीता तो न सही, पर दूसरे को पिलाने में थोड़ा आग्रह, थोड़े विनय की जरूरत होती ही है। पर उसके लिए जैसे उसका कोई खास महत्त्व न था। वह एक क्षण तक सामने लगे चित्र की ओर देखती रही। उसके मन में जैसे उस चित्र के बारे में इतना ही भाव नहीं था कि उसे उसने मंसूरी में आज से तीन साल पहले, अपनी शादी के साल बनाया था। कुछ और था, जो उसके तमाम दूसरे भावों पर झीने आवरण सा छा जाता था, और जिसके नीचे ऊपरी सतह के भाव दुबके पड़े रहते थे।

मैंने चाय पीकर उस कोने में रखे तानपूरे की ओर इशारा किया; "आपको गाने का शौक है!" वह मुस्कराई। हाँ, मुस्कराई ही। उसकी वह मुस्कान कुछ विचित्र थी। उसके लाल होंठ और उसके चमकते दाँत बिजली के प्रकाश में बड़े सुहावने लगे। यह कोई विचित्रता नहीं है। उस हँसी में मन के किसी मरोड़ को छू

जाने का भाव था। वह टूट रही थी, दब-दब कर मिटती जा रही थी। लगा, जैसे कोई सोई लहर उठकर चल पड़ी है, जिसमें जलन भी है, शीतलता भी। वह उसके अधरों पर चाँदनी की एक रेखा सी फैल गई, जिसमें चारों ओर काले-काले बादलों की लम्बी छायायें मँडरा रहीं थीं।

'जी हां, शौक तो नहीं, पर गाती हूँ। गाती ही नहीं अक्सर गाती हूँ। गाना ही मेरा जीवन है।' और वह खिलखिलाकर हँस उठी। 'सुनियेगा आप भी ?'

मैंने उसकी ओर उत्सुकता से देखा, 'जरूर, जरूर क्यों नहीं।' बाहर वारिश जैसे रुक गई। सारा तूफानी बादल छँटता सा लगा। उसकी हंसी की हिलकोरें अब भी कमरे में गूंज रही थीं। मैंने देखा, वह कोने से तानपूरा उठा लाई है और सोफे पर बैठ गई है। मैंने उसकी आखों में देखा, उसके अधरों पर देखा, सर्वत्र एक प्रसन्नता की छाया थी। उसके होंठ खास अन्दाज में तिरछे खिंचे हुये हंसने की मुद्रा में बन्द थे। उसने फिर सामने टंगे हुए चित्र की ओर एक नजर देखा। तानपूरा ध्वनित हो उठा। एक बड़ी ही करुण, बड़ी ही संजीदा, दर्दभरी स्वरलहरी दीवारों को छूकर सनसना उठी। लगा, जैसे हजारों छोटी-छोटी चिड़ियों के वच्चे तूफान के चक्र में चीत्कार कर रहे हैं। वह गाए जा रही थी। उसके गाने में वही दर्द था जो मेरे दिल की हर धड़कन के साथ दीवारों से टकराकर विखर जाता था। उसके गाने का हर शब्द, उसके आहत हृदय की किसी व्यथा का बोझ लिए, घायल भौंरे सा दीवारों में टकराकर सर धुनता था। उसने तानपूरे की तान पर अपनी आवाज को खींचा और एक झटके से मूर्च्छना की तरह सब स्वर सो गये और तभी एक लम्बी चीख सुनाई पड़ी। भयानक व्यथा से जैसे कोई कराह उठा।

वह झटके से उठी। दक्खिन वाली दीवार का दरवाजा खोलकर भीतर घुसी। मैं भी उसी हड़बड़ाहट में उसके पीछे हो लिया। कमरे के भीतर जो दृश्य देखा तो पूरा शरीर सिहर उठा। कमरे के भीतर एक चारपाई थी, जिस पर सफेद बिस्तरे पर एक आदमी लेटा था, जिसके दोनों पैर घुटने तक कट गये थे। बाकी हिस्सा भी सूजा हुआ था। उस पर जगह जगह पट्टियां बंधी हुई थीं। उस नवयुवक का पूरा शरीर सूखकर अस्थि मात्र बच रहा था।

उसने पहुँचते ही पास रखी गिलास में पानी लिया, बगल के आले से एक साफ सा कपड़ा उतार कर पानी में भिगोया और उस बेहोश आदमी के सिर पर लपेट कर पंखे से हवा करने लगी। ये सब काम उसके अभ्यस्त हाथ बड़ी सावधानी से कर रहे थे। थोड़ी देर बाद उस आदमी ने आँखें खोलीं।

'रानी।'

उसने धीरे से कहा और उसके हाथों से लिपट गई।

"मुझे क्षमा कर दो।" वह गिड़गिड़ाकर बोली, "क्षमा कर दो मुझे, मैंने गलती की।"

उसने बड़े इत्मीनान से उत्तर दिया, "उसमें क्षमा की क्या बात रानी! गाने के लिये तो मैं तुम्हें सदैव कहा करता हूँ। मुझे खुद तुम्हारे गाने से बड़ी शान्ति मिलती है। लगता है, ये दुःख के दिन तुम्हारे गाने के सहारे काट दूँगा।"

"नहीं, नहीं, मैंने आज वही गाना गाया। उसके लिये मुझे दुःख है। मैं ऐसी गलती फिर न करूँगी।"

"उस गाने में कुछ झूठ तो है नहीं। तुमने मेरे लिये क्या नहीं किया? आज तीन बरस हो गए। मंसूरी में जब से मोटर लड़ी और मेरी यह हालत हुई, तब से आज तक तुम मेरी इस

जीवित लाश के साथ जलती रही। रानी, तुमसे क्या मैं तुम्हारा गाना भी छीन लूँ ?" और फिर वह बेहोश हो गया।

बारिश बन्द हो गई थी। वह चुपचाप सीढ़ियों पर उतरती हुई चली और मैं उसके पीछे मूक चलता रहा। दरवाजे पर आकर वह रुकी। मैं चुपचाप उस कमरे से बाहर हुआ। मेरे मन में एक अजीब तरह की हुंकार सी उठ रही थी। मैं चाहता था कि उस व्यथित नारी को कुछ सान्त्वना के शब्द कहूँ, उस दुखिया के प्रति कुछ सहानुभूति जता दूँ, पर मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। और मैं चुपचाप दोनों हाथ जोड़कर खड़ा हो। उसने अँधेरे में शायद देखा भी नहीं। फाटक बन्द हो चुका था। मैं चुपचाप उस टीन की छाजन के उसी खंभे को छूता हुआ बाहर चला आया।

और अब सड़क की उसी बाईं पटरी से चला जा रहा हूँ, जिसके धुले शरीर पर मोटरों की बत्तियों का प्रकाश पिघली चाँदी की लहर की तरह बिछल उठता। रात वैसी ही भयानक है। मन को लाख समझाता हूँ; पर बरबस मेरी आँखों के सामने एक चित्र आता है, जिसे उसने अपनी शादी के साल बनाया था। पहाड़ी की पगडंडी पर वह जिस पुरुष के हाथ का सहारा लिये चल रही थी, वह छूट चुका है। मेरे मन पर उसके गाने के स्वर झंकार कर उठते हैं। कड़ियाँ तो साफ नहीं उठतीं पर एक दर्द भरी तान मन पर उस भाव की अमिट छाप छोड़ जाती है:—

मेरी पाँखें कितनी रंगीन हैं। हाँ, हाँ, मैंने उन्हें नाना भावों के रंगीन फूलों से पराग लेकर सजाया था। जरा छूकर देखो न! कितने चटकीले हैं ये रंग। तुम्हारे हाथों में सटकर ये चमक उठेंगे। मैं तितली हूँ, एक परकटी तितली।

११ डा० गुट्टू होस्टल विश्वविद्यालय, बनारस

मुफ्तखोर

(श्री शंकर रोष)

सोनिया की आमदनी चौदह आने रोज थी। बीड़ी बनाने का धंधा था। जितनी मेहनत उतना पैसा। आराम से छाँह में बैठे बैठे काम करो, मालिक का पत्ता मालिक की तम्बाखू, सिर्फ उंगलियों की कलाबाजी पर चौदह आने पैदा कर लेना उस स्तर के दूसरे धंधों से नामुमकिन था। सोनिया बारह बरस की उमर से यह धंधा कर रही थी, पर उसे विरक्ति नहीं हुई। माँ-बाप यही धंधा करते थे। जब वह चौदह बरस की थी, वे किसी रेल-दुर्घटना में कट मरे थे। तब से इस धंधे को पैतृक समझकर सोनिया निबाहे जा रही थी। अब उसकी उमर २४ साल की थी। काला रंग, ठिगना कद सुघड़ नाक नक्शा, और इन सब पर चढ़ा चटकीला जवानी का रंग। बुनकरों की बुनी साड़ी की जगह एम्प्रेस मिल्स की महीन साड़ी पहिनती, अंगों को और भी खुल कर दिखानेवाला छींट का ब्लाउज पहनती, चेहरे पर सस्ता पाउडर मलती, बिन्दी लगाती, रातरानी तेल से केशों को चमकाती और सोने की सीमा तक न पहूँच सकने के कारण हाथों में चांदी की चूड़ियाँ और गले में हँसली पहनकर संतोष कर लेती थी। खुद कमाती थी, फिर किसी से डरती क्यों! उसने ब्याह भी इस डर नहीं किया, क्योंकि डरती थी कहीं उसका मर्द उसकी छाती पर चढ़कर उसी की कमाई से जिंदगी बसर करने की न ठान ले। पहिले बाल-बच्चों वाले मुहल्ले में

रहती थी। उसकी आज़ाद तबीयत से तंग आ मुहल्लेवालों ने उसे बद्‌जात कहकर पीटा और निकाल दिया। अब वह सस्ती रंडियों के मुहल्ले में एक छोर में कोठरी लेकर रहने लगी। उसे अब निकालने के लिये कोई नहीं आया, क्योंकि इस मुहल्ले में रहनेवालों की कोई जात नहीं होती।

सोनिया अब भी बीड़ी बनाकर चौदह आने कमाती छः आने में चावल, लकड़ी, नोन, तेल, वगैरह खरीदती जिससे ज़िंदा रहकर दूसरे दिन बीड़ी बना सके। बच जाते आठ आने, काम करते-करते दिन में एक आनेवाली दो बार चालू चाय पीती, एक आने के दो पान खाकर ओंठ और दांतों को रंगती, बचे पैसों में रात को सेकण्ड शो सिनेमा देखती, तेल पाउडर वगैरह खरीदती। यही था उसके नित्य प्रति का बजट।

रात को सिनेमा छूटने पर, बारह बजे कोई जरूरत मंद उसके पीछे पड़ जाता, तो रात भर के लिये उसे पति बनाकर कोठरी पर ले आती। इन जरूरत-मंदों में कुछ दाम देते, वरना बड़ी संख्या मुफ्तखोरों की ही होती। एम्प्रेस मिल की साड़ी खरीदना, कोठरी का किराया वगैरह देना, इसी रात्रि के व्यवसाय से पूरा होता, पर उसका मुख्य धंधा मूलतः बीड़ी बनाना ही था। जानती थी, जवानी तो टेसू का फूल है, जाने कब झर जाय। बुढ़ापे में भी उसे अपनी बीड़ी बनाने वाली उंगलियों का अधिक आसरा था।

एक सांझ बीड़ी बनाकर लौटी। पत्ते की चुँगडी एक कोने में रख दी। चूल्हा जलाया। किसी तरह जल्दी जल्दी भात पकाया, नमक के कुछ टुकड़ों और मिर्च की चटनी के साथ दस पच्चीस कौर गले के नीचे उतार, पत्ता काटने बैठ गयी। पत्ता अच्छे किस्म का नहीं था, बड़ी देर में कट पाया। काम खतम कर, उसने साफ साड़ी पहनी, पाउडर मला, बिंदिया लगाई, अपनी

सीमा में जितना भी मेक अप कर सकती थी, किया। फूटे आइने में चेहरा देखा। मुस्कुराई, ब्लाउज की जेब में चवन्नी रख दरवाजा बंद करती हुई कोठरी से बाहर हो गई।

सिनेमाघर पहुँची। नया खेल लगा था। बुकिंग आफिस की खिड़की पर आदमी मधु मक्खी के छाते की तरह छा गये थे। गर्मी के दिन। टिकिट लेने में प्रयत्नशील हर आदमी के कपड़े पसीने से तर थे। दुर्गन्ध उठ रही थी। खेल कल भी चलता, पर कोई भी लौटने के लिये तैय्यार न था। बिना सिनेमा देखे लौट जाना प्रत्येक के लिये पानीपत की एक लड़ाई हार जाने के बराबर था! पहिला खेल खतम हो गया था, इसलिये समय काटने के लिये पुरानी फिल्मों के घिसे रेकार्ड बज रहे थे। भीड़ की सत्ता से पराजित होकर एक पुलिस वाला दूर खड़ा बीड़ी सुलगा रहा था।

सोनिया को निराशा होने लगी। उसके लिये भी आम लोगों की तरह सिनेमा हाल तक पहुँच कर खेल देखे बिना लौट जाना अपमानजनक था। पर करे क्या, कुंभ मेले-जैसी भीड़ और वह औरत जात। वह लौटने लगी। भीड़ में दो चार कदम चल ही पायी थी, कि उसे फुस-फुसाहट की आवाज सुनाई पड़ी। दस पांच आदमियों से घिरा बीस बाइस साल का एक लड़का कह रहा था—'चार आने की टिकिट सात आने में।' लड़का हाफपेंट पहिने था, गले में लाल रूमाल बंधा था और उसकी मैली कमीज पसीने से हर छोर तक गीली हो गयी थी। सोनिया को याद आया, उसके पास केवल चार आने हैं, कहीं यह झिटकार न दे। उसने उस मैले जवान, नमकीन लड़के की ओर चवन्नी बढ़ाते हुये कहा—"ऐ एक टिकिट मुझे भी दे दो।"

लड़के ने उसके हाथ में केवल चवन्नी देखकर कहा—

"तीन आने और निकाल।"

"बस चवन्नी भर है।" इतना कहकर सोनिया ने उसपर एक कटाक्ष किया।

"अच्छा ला चवन्नी ही ला, कहाँ रहती है?"

"बंजारी बाजार में।"

मुहल्ले का नाम सुनकर लड़का मुस्कराया। चवन्नी लेकर टिकिट थमाते हुये उसने कहा—"खेल खतम होने पर इन्तजार करना।"

"अच्छा! कहकर सोनिया हाल के भीतर चली गई।"

खेल खतम होने के ५ मिनट पहिले ही भीड़ से बचने के लिये सोनिया बाहर निकल आयी एक कोने में दुबक कर प्रतीक्षा करने लगी। टिकिट बेचने वाला लड़का भी इस फन में उस्ताद निकला। वह भी जल्दी से बाहर आ गया। दोनों सूनी सड़क पर साथ साथ चलने लगे। सोनिया ने बातचीत का सिल-सिला जारी करने के लिये पूछा—"क्या नाम है तेरा?"

"भूखन, और तेरा?"

"सोनिया! तू यह लफंगों का धन्धा क्यों करता है, हराम की कमाई कब तक टिकेगी, कहीं पुलिस पकड़ ले गयी तो, इससे तो कहीं अच्छा बीड़ी बनाना है।"

"इसमें हराम की क्या बात, जान हथेली पर रख टिकट लाता हूँ, बाबू लोग दो आना अधिक दे देते हैं, उनके कीमती कपड़ों की लाज तो रह जाती है न। एक घंटे में भीड़ के दिन दो तीन कमा लेता हूँ, बीड़ी बनाने में कौन साला दिन भर कमर तोड़े?"

"पुलिस का डर नहीं लगता?"

"ये टुकड़े-खोर पुलिसवाले क्या कर लेंगे, चवन्नी थमा दो, साले कुत्ते बन जाते हैं, हां इन्सपेक्टर ने पकड़ लिया तो हण्टर मारे बिना नहीं छोड़ता।"

"इस बेइज्जती से तो बीड़ी बनाना अच्छा, हराम की कमाई के लिए हण्टर खाना.... ....।"

भूखन ने बीच में ही टोका—"अब चुप भी रह।" वह अपनी गंदी हाफपेण्ट से बेन बाजा निकालकर बजाने लगा। यही बेन बाजा उसके लिये खाली समय काटने का साधन था। बजाते-बजाते हाथ सध गया था। सिनेमा की धुनें तो कमाल की बजाता। वह झूम-झूम कर बेन बाजा बजा रहा था। सोनिया को उसका बाजा बहुत अच्छा लगा। गाना समाप्त होने पर उसने कहा—

"तू तो बेन बाजा बहुत अच्छा बजा लेता है ?"

"क्या मुझे यूँ ही फालतू आदमी समझती है, समझ ले तू ने सिनेमा के किसी भी गाने का नाम लिया नहीं और वह बज गया ! "

"कहां से सीखा तूने ?"

"तूने बीड़ी बनाना कहां से सीखा, बस ऐसे ही आ गया !"

"घर चलकर गाना सुनायेगा ?"

"जब हम तेरे हैं, तब गाने की क्या बात।"

सोनिया को भूखन बड़ा दिलचस्प लगा। अब रोज वह उसकी प्रतीक्षा करती, सिनेमा खतम होने पर दोनों साथ आते, भूखन बेन बाजा बजाता, सोनिया मुग्ध होकर सुनती। ४ दिन इसी तरह बीत गये। सोनिया के व्यवसाय की दृष्टि से भूखन मुफ्तखोर था, परन्तु उसे अखरा नहीं। पांचवें दिन सोनिया फिर सजधज कर सिनेमा गयी, पर भूखन नहीं आया। खेल खतम होने के पश्चात् भी उसने प्रतीक्षा की। अकेले लौटना उसे बहुत अखरा।

घर आयी, बिना कपड़े बदले ही सो गई। शायद भूखन आ जाय, इस आशा से उसने कोठरी का दरवाजा बन्द नहीं

किया। वैसे अब गरमी भी पड़ने लगी। करीब ढाई बजे किसी परिचित हांथ का स्पर्श पा कर उसकी नींद खुल गयी। देखा भूखन पसीने से तर घबराया हुआ उसके सामने खड़ा है। सोनिया ने मुस्कुराकर उससे पूछा— "आज सिनेमा क्यों नहीं आया ?"

"दम भी लेने देगी, आते ही हवलदारों की तरह दरियाफ्त करने लगी !" भूखन खाट पर बैठ गया।

"कहां गया था ? दरोगा तो पकड़कर नहीं ले गया था, हण्टर तो नहीं मारे ?"

"आज बाल-बाल बच गया, वरना हण्टर क्या साल भर जेल में सड़ता ! भगवान् ने ही बचाया।"

"क्या चोरी की, डाका डाला ?"

"हां, भीड़ में एक औरत के गले का हार छीनकर भागा, हाय-हाय करने लगी, पुलिस ने पीछा किया, पर बच गया !"

"पुलिस ने तुझे पहिचान तो नहीं लिया ?"

"साले, क्या खाकर पहिचानेंगे, घुड़दौड़ के घोड़ों जैसे दौड़ने भर से चोर थोड़े पकड़ा जाता है।"

"तू चोरी भी करता है, दुनिया का हर नीच काम करता है।"

"चुप रह तू कौन महासती अनुसूय्या है, ?"

"तेरे जैसे चोरी तो नहीं करती, हराम की कमाई तो नहीं खाती, दिन भर कमर तोड़ती हूँ तब चौदह आने मिलते हैं। तू क्या समझे, चोरी की टिकिट बेचनेवाला पसीने की कमाई का क्या मोल समझेगा ?"

"चुप रह, जबान लड़ाती है, जा एक गिलास पानी ले आ।" सोनिया पैर पटकती हुयी पानी लाने चली गयी। भूखन खाली खाट पर लेट गया।

सोनिया पानी लेकर लौटी। लोटा हाथ में लेते हुये भूखन ने कहा—"आ पास बैठ।"

"क्यों" इच्छा होकर भी सोनिया ने ऐंठ दिखाई।

"साली तेरी ही भले की बात कहता हूँ ऐंठ दिखाती है।"

"ए गाली मत दे, तेरी कमाई खाती हूँ ?"

"अच्छा अब बैठेगी भी ?"

सोनिया बैठ गयी।

भूखन ने अपनी हाफपेंट की जेब से सोने का एक कीमती नेकलेस निकाला। सोनिया के गले में बांधते हुये कहा—"यह ले, तू भी क्या नाम लेगी।"

सोनिया ने सोने का स्पर्श पहिली बार किया था, यद्यपि जन्म से उसका नाम सोनिया था। सोनिया ने नेकलेस छूकर देखा, कुछ सोचने लगी। भूखन ने उसे चुप देखकर कहा—"चुप क्यों है, क्या पसंद नहीं आया, तेरे बाप ने भी ऐसा हार सपने में भी नहीं देखा होगा!"

कुछ देर की चुप्पी के बाद सोनिया ने पूछा—"हार चोरी का है न ?"

"नहीं तो मुझ कंगाल के पास कहां से आता ?"

"तब मैं इसे न लूँगी।"

"काहे को नखरे करती है, साली जनम भर बीड़ी बनेयेगी तो भी न बन पायेगा।"

"मेरी दिन भर की कमाई के चौदह आने राज करे। मुझे हराम का हार लेकर अपनी चैन से गुजरती जिंदगी में तूफान नहीं पैदा करना है। तेरी मुफ्तखोरी सह सकती हूँ पर हराम की कमाई कौड़ी भर भी नहीं लूँगी।"

"तो साली मैं मुफ्तखोर हूँ।"

"तू ही बता न कितने थैले कमा कमा कर लाया है ?"

"तो मैं मुफ्तखोर हूँ।"

"इमान का धेला नहीं दिया, मुफ्तखोर नहीं तो और क्या ?"

अच्छा ठहर साली…………

गुस्से में पैर पटकता हुआ भूखन तीर की तरह बाहर हो गया।

दूसरे दिन सोनिया सिनेमा देखने नहीं गई। घर पर ही पड़ी रही। ठीक बारह बजे भूखन आया। उसने खड़े-खड़े ही पूछा—"मैं तेरे यहाँ कितने दिन आया हरामजादी।"

"पूरे चार दिन।"

उसने पांच रुपये का एक नोट उसके मुँह पर मारते हुये कहा—

"अभी चार रुपये काटकर बाकी एक वापस कर।"

"कहां से चुरा लाया?"

"नीच तू क्या जाने, अपने जान से प्यारा बेन बाजा बेचकर लाया हूँ, साली मुफ्तखोर कहती है।"

"उँह, बेन बाजा भी किसी बच्चे का लूटा हुआ होगा।"

"एक लात मारूँगा ऐसा कहा तो, एक साहब के बच्चे को डूबने से बचाया था, उसीमें इनाम पाया था। तू क्या समझे इनाम मोल, सौदा करने वाली। ला जल्दी ला एक रुपया।"

सोनिया ने भी ताव में आकर एक रुपया फेंक दिया। पर उसे इस आदमी के जाने पर भीतरी दर्द हो रहा था। भूखन ने रुपया उठाते हुये कहा—"साली नाखिर है न बीड़ी बनानेवाले, इश्कबाजी को क्या समझे।"

सोनिया कुछ कहे इसके पहिले वह जा चुका था।

ईश्वर

(श्री आनन्द कृष्ण)

लाला हरजसराय पश्चिमी पंजाब के एक प्रसिद्ध जमींदार थे। नहर के पानी और मशीनी खेती ने उनकी जमींदारी को सचमुच वसुन्धरा बना दिया था। सारे भरे-पुरे परिवार के साथ उनका घर सचमुच ईर्ष्या का विषय था।

उनकी पत्नी जब अपने भरे-पुरे बखारों की कुंजी गर्व के साथ मजदूरों के सामने फेंक देतीं, तो उनका वृद्ध चेहरा चमक उठता। घर में बेटियों, बहुओं की कमी न होने पर भी वे स्वयं सारे सूत्र अपने हाथ में रखतीं। काम करते-कराते उठते-बैठते प्रायः उनके मुँह से संतोष की सांस निकल पड़ती—"हे ईश्वर तुम कैसे दयालु हो।"

उनकी छोटी बहन का विवाह पास ही के एक गांव में हुआ था। बहुत पहले वे दोनों इसी गांव के किनारे बचपन में नदी से पानी ले लेकर दूर तक हँसती बातें करती सहेलियों के साथ चली जातीं तो उन्हें स्वप्न में भी अनुमान न था कि इसी पगडंडी से विभाजित गाँव की दो सीमाएँ उन दोनों को इसी प्रकार अलग कर देंगी जैसे रात में चक्रवाक युगल।

अब दोनों के बीच खेतों का एक महासमुद्र उफन आया है, उसकी लहलहाती हरियाली दोनों को चिर विश्लिष्ट कर उठी। इतना ही नहीं, जिस दिन राजभक्ति के पुरस्कार में लाला हर-

जसराय जी नहरी भूमि के स्वामी हो गये उस दिन से यह अन्तर विस्तीर्ण होता गया। अब दोनों का बहनापा इतने तक ही सीमित है कि किसी काज परोजन पर, जब जाना आना नितान्त आवश्यक होता है, तभी दोनों एक दूसरे को देखतीं।

जिस दिन छोटी बहन ने यह अनुभव कर लिया कि लक्ष्मी के उपासकों का वर्ग एक अलग लोक है और जनसाधारण का एक दूसरा, तभी उसने अपने मन को कुंठित सा कर इस कटु सत्य को हृदयंगम कर लिया कि निर्धनों और धनिकों की कोई नातेदारी-रिश्तेदारी नहीं है।

सन् ४६-४७ के अंधकारमय दिनों में विपत्ति के बादल चारों ओर से उमड़ रहे थे। एक अज्ञातमय सभी के मन में सिहरन पैदा कर रहा था। उस समय रायबहादुर लाला हरजसराय की चल सम्पत्ति एक के बाद एक ट्रकों पर लदकर किसी अज्ञात दिशा को जाने लगी तो समस्त पास-पड़ोस की भांति छोटी बहन के मन में भी एक उत्कंठा हुई। क्यों न इसी के साथ उसकी भी पोटली चली जाय? और कुछ नहीं तो उसका छोटा नाती चला जाय। बहुत डरते हुए वह एक दिन अपनी बड़ी बहन के पास इस उद्देश्य को लेकर गई थी। पर वहाँ के हंगामे, चारों ओर चीज-वस्तु बटोरने में बाँध-छोड़ करने में, कोलाहल में, मालकिन—अपनी बड़ी बहन—के गर्जन-तर्जन में, नौकरों की झपटा-झपटी में, उसकी हिम्मत भी न पड़ी कि वह कुछ कह सके। तब उसका आँचल पकड़े-पकड़े उसके घर के एकमात्र प्रकाश, सात वर्षीय प्रकाशकुमार ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें घुमाते हुए उससे प्रश्न किया था "अम्मा। यह सब क्या हो रहा है?"

"कहीं जाने की तैयारी हो रही है, बेटा," भय के मारे दबे स्वर में दादी ने उत्तर दिया कि उसके इस उत्तर से कहीं बड़ी बहन का क्रोध न उबल पड़े।

"हम भी जायेंगे अम्मा।" बच्चे ने हठ करते, पैर पटकते हुए कहा।

सामने गृहस्वामिनी की तेवरें चढ़ गईं। शिशु भयभीत हो दादी के आँचल में मुँह छिपाने लगा। गृहस्वामिनी अर्ध स्वगत् स्वर में कहा, "जो बात अपने कहने की हो उसे बच्चों से कहलाने में भला क्या शोभा है।"

बात वहीं रह गई। छोटी बहन को कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी।

× × ×

छः महीने बाद। पूर्वी पंजाब के किसी बड़े जंक्शन पर, प्लेटफार्म पर बैठे हुए रायबहादुर हरजसराय का परिवार ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहा था। तीन वैगनों में सामान रवाना हो चुकने के बाद शेष सामान की सूची उनके चार पुत्र जांच रहे थे। उनकी पुत्र-वधुएं विस्तरबन्दों पर आसन जमाये ऊँघ रही थीं, एक अपने नवजात को दूध पिला रही थी। तनिक हट कर कई ट्रंकों, विस्तरबन्दों को लगाकर कौशल से कुलियों ने बैठने-लेटने का एक अच्छा स्थान बना दिया था। रायबहादुर चिन्ता में बैठे कुछ सोच रहे थे। उनकी पत्नी थकान से भरी हुई पास में लेटी हुई करवटें बदल रही थी, जम्हाइयाँ ले रही थी। तभी उनके छोटे पुत्र ने आकर सूचना दी, "लाला जी, हर एक सामान ठीक है, एक सूई भी इधर-उधर नहीं हुई है।"

लाला जी अपनी बड़ी-बड़ी पकी मूँछों को मरोड़ते हुए चिन्तन के उसी मुद्रा में बैठे रहे। उनकी पत्नी ने करवट बदली, अभ्यासवश उसके मुँह से एक गहरी साँस के साथ निकल पड़ा, "हे ईश्वर। तुम कैसे दयालु हो।"

रेल की पटरियों के उस पार दूसरी ओर प्लेटफार्म भरा हुआ था। थोड़ी-थोड़ी देर पर स्पेशल ट्रेनों की व्यवस्था थी। ट्रेनें

आतीं, यात्री उन पर पतंगों की भाँति टूट पड़ते, गाड़ियाँ ऐसी भर जाती कि तिल रखने को भी जगह न मिलती फिर भी प्लेट-फार्म की भीड़ में तनिक भी कमी न होती। फिर स्पेशल ट्रेन आतीं फिर भीड़ भरती, पर भीड़ ज्यों की त्यों बनी रहती।

उन्हीं में एक बुढ़िया थी। उस प्लेटफार्म पर बैठी सभी बुढ़ियों की भाँति उसका सारा तन धूल-मिट्टी से भरा था, उसके गंगा-जमुनी बाल बिखरे और उलझे थे, उसके तन पर का कपड़ा धज्जी-धज्जी हो गया था। इतना ही नहीं, उस पर यत्र तत्र खून के धब्बे थे जो धूल-गन्दगी, पसीने से मिल कर ऐसे हो गये थे मानों शासन के चेहरे पर किसी रोग के दाग हों। उसके पैरों में चलते चलते सूजन आ गई थी, उस की आँखें रोते-रोते फल गई थीं, उसकी आवाज बैठ गई थी और किसी आततायी द्वारा खींच कर निकाले जाने से उसके कान के चाँदी के आभूषण ही नहीं गायब हो गये थे, बल्कि घाव भी हो गये थे जिसके कारण कान भी सूजा हुआ था।

उसके साथ कोई न था। एक छोटा शिशु भी नहीं जो कम से कम जीवन का सम्बल तो हो। फिर भी जब-जब स्पेशल आती, एक अज्ञात आर्कषण से खिंची हुई वह डब्बों की ओर बढ़ जाती। उनमें स्थान पाने के लिये प्रत्येक बार असफल प्रयत्न करती, फिर उमड़ते जनसमुदाय की उत्ताल तरंगों से ठिलती हुई पीछे फिक जाती, हताश हो फिर बैठ जाती। कई बार इस प्रयत्न के बाद भी जब वह ट्रेन में सवार न हो सकी तो पास में बैठी उसी जैसी एक वृद्धा ने उससे पूछा, "तुझे आखिर कहां जाना है ?" तो उसने शिष्टाचार के नाते उत्तर दिया, "कहीं नहीं बहन।" फिर अपने वाक्य को पूरा करते वह भुनभुनाई, "जहाँ ये गाड़ी ले जाय।"

पास वाली वृद्धा ने सहज जिज्ञासा से पूछा, "क्या तेरे साथ

और कोई नहीं ?" यह कह कर उसने अपने चारों ओर बैठे अपने भरे पुरे परिवार को देखा।

पहली वृद्धा फूट-फूट कर रो उठी। बड़े प्रयत्न से जब उसकी सिसकियां बन्द हुई तो उसने बतलाया उसका एकमात्र सहारा, उसका छोटा नाती रास्ते में न जाने कहां, इधर-उधर हो गया। न जाने उसकी क्या गति हुई होगी।

इसी समय एक स्पेशल आ गई। सभी उसकी और दौड़ पड़े। कई बार निराश होने से, यह वृद्धा निश्चेष्ट पड़ी रही। तब दूसरी ने, जिसका जवान और तगड़ा पुत्र अपने सारे परिवार को ट्रेन में लादने का प्रयत्न कर रहा था, द्रवित हो कर कहा,

"इस बिचारी को भी ले लेते।"

सबके सम्मिलित प्रयत्न से यह वृद्धा भी किसो प्रकार भीड़ के अन्तर तक घुस गई। पर उसी समय एक बड़ा रेला आया। उसमें बहती हुई वह दूर निकल गई। उसके प्रतिघात से उसकी हड्डी-पसलियाँ चूर-चूर होने लगीं, उसका दम घुटने लगा और वह अचेत सी होने लगी। तभी एक अज्ञात झटके ने उसे भीड़ के बाहर कर दिया। वह धड़ाम से प्लेटफार्म पर आ गिरी। उसके हाथ पैर छिल गये थे, उसके घुटनों में काफी चोट आ गई थी। उसी समय उस पर से कई व्यक्ति अपने कदम रखते चले गये।

कुछ देर बाद उसे होश आया, वह कराह उठी। उसके साथ उसके मुँह से बरबस निकल पड़ा "हे ईश्वर। तू कितना निर्दय है।"

हाँ, वह छोटी बहन थी।

सीता निवास
बनारस

मज़ार की बातें

(श्री रञ्जन त्रिवेदी)

हवा खामोशी में न जाने घुटन को महसूस कर रही थी या उन्हें इस तरह मचलने की धुन ही सवार हो गई थी कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। आकाश भी बादलों का सेहरा पहनकर किसी को ढूँढ़ने निकल पड़ा था। जमीन और आसमान अपने तूफानी दौरे से गुजर रहे थे। ऊपर बादलों की जमघट घने अन्धकार को सघन बना रही थी। सुरेश अपने मुरझाये हुये तन-मन को ढकेलता हुआ चला जा रहा था। बिखरे हुए बाल, सूखे सूखे उड़ते हुये, किसी उजड़े हुये आशियाने की तरह फ़ैल गये थे। कदम डगमगा रहे थे। निगाहें तूफ़ान के उस पार किसी को खोज रही थी। हाथ कभी हथौड़े की तरह उठते और कसी हुई मुट्ठी दूसरी खुली हुई हथेली पर टूट पड़ती। सुरेश अन-मना सा कुछ बुदबुदा देता। उसकी बुदबुदाहट में रंजे दिल की आवाज सुनाई पड़ती। कभी दोनों हाथों की उँगलियों को फैला कर बिखरे बालों वाले सिर को पकड़कर झकझोर देता, कभी २ जल्दी २ चलता, कभी रुक जाता, फिर जल्दी, फिर रुकना, यही क्रम उसका चलता रहा। वह जिन्दगी से ऊब चुका था, इन्सा-नियत को तलाक दे चुका था। उसके पूर्व उसे किसी भी क्षेत्र में नाकामयाबी हासिल नहीं हुई थी। कालेज में वह बी० ए० में प्रथम श्रेणी में आया था। वहाँ कामयाबी उसके क़दम-चूमती थीं, इंसानियत उसका साथ देती थी। दोस्त उसके साथ रहने में

एक शान अनुभव करते थे। वही सुरेश आज दर-दर की ठोकरें खा रहा है। उसे कोई पूछता ही नहीं। आज उसने नाकामयाबी के आगे माथा टेक दिया है। आज वक्त उसकी मजाक उड़ा रहा था, उसे दुत्कार रहा था। अपनी नौकरी के लिए कहते-सुनते वह सेठ करोड़ीमल के पास पहुँच गया। अपनी दाँस्ताँ सुनाई। सेठ साहब पहले तो सुनते रहे, जब वह सुनाते २ रोने लगा तब सेठ साहब ने खीझ कर कहा—"भाग जा कुत्ते, तेरे जैसे बी० ए० तो मेरे यहाँ फर्श-पोश हैं, तू किस गिनती में है।" इतने पर भी सुरेश गिड़गिड़ाता रहा, मिन्नतें करता रहा। तब सेठ साहब ने उस पर थूक दिया और नौकरों से कहा—"इस आवारा लुच्चे को निकाल बाहर करो।" दो लठैतों ने उसे निकाल बाहर किया और चलते २ दो लात जमाये। नौकरी की उसकी यह शायद आखिरी तलाश थी। अब उससे जरा भी नहीं सहा जाता था। वह भागा जा रहा था। जहाँ मौत उसे आखिरी कामयाबी का सेहरा बाँधे बुला रही थी। सुरेश बिना किसी भय के चला जा रहा था। सेठ साहब का व्यवहार उसे रह रहकर डस रहा था। क्या मैं इन्सान हूँ या नाली का कीड़ा। इन्सान के साथ इन्सान की ये बेजा हरकतें, क्या इन्सानियत का जनाजा निकल चुका है? इन्सान मर गया, चांदी के टुकड़ों की यह हस्ती कि इन्सान को कुत्ते की तरह मार कर बाहर निकाल दे। कितनी आरजू की, कितनी मिन्नतें की मैंने उस कमीने की। ठीक से बोलना तो दूर रहा, सड़ा हुआ मांस समझकर मुझ पर थूक दिया। तब भी मैं जिन्दा रहा, हाय मेरी जिन्दगी। इससे बेहतर तो मौत है, सारी झंझटों का खात्मा कर आराम से मौत को छाती से लगाकर सो जाऊँगा। दुनियाँ न किसी की है और न रहेगी।

रात हो चुकी थी। उसे पता भी नहीं था कि वह किस दिशा

की ओर बढ़ रहा है। बादलों की गड़गड़ाहट बढ़ चली थी। पानी का झल्ला आकर चला जाता था। जिन्दगी का खात्मा करने, अरमानों को फूंकने के लिये वह चला जा रहा था। वह हार गया था, जिन्दगी से या चांदी के टुकड़ों से। बादलों की तेज गड़गड़ाहट में बिजली चमक उठी, सुरेश ने उसी प्रकाश में देखा कि सामने डोलती हुई सरिता चली जा रही है। वह उसी ओर बढ़ गया। हवा सांय सांय करती जा रही थी। अंधेरा घना होना हो चुका था। सब कुछ अंधेरे में खो गया था। सुरेश ने किनारे पहुँचकर अचानक ही एक भयानक हंसी में हा-हा-हा की, और कूदने को क़दम बढ़ाया ही था कि इतने में उस अंध-कार को चीरती हुई एक आवाज ने कहा—'रुक जा ए बदनसीब नौजवान। सुरेश का बढ़ा हुआ क़दम रुक गया।' उसने पीछे घूमकर देखा, कोई नहीं था। इस बीच बिजली फिर से चमक उठी। उसके प्रकाश में उसने देखा कि एक कब्रिस्थान में खड़ा है। उसने बुदबुदाया —मौत—जिन्दगी, कुछ नहीं, इन्सान भाग गया है, इन्सानियत उठ गई है। अब तो मौत ही भली है, और जल्दी से वह कूद ही रहा था कि फिर से वही आवाज सुनाई पड़ी — 'रुकजा बदनसीब !' क्यों जल्दी करता है। मौत बड़ी मुश्किल से आती है। उसे खेल मत समझ। मौत के लिये इतनी जल्दी न कर, जरा रुक जा। जल्दी में नासमझी हो जाती है। तेरी अध खिले फूल सी जिन्दगी है, उसे खूब खिलने दे, उसकी खुशबू उड़ने दे। अभी खिल ही नहीं पाया तो खुशबू कहां से उड़ेगी। जानता है, यह कब्रिस्थान दुनियां को क्या बता रहा है। सुरेश चुप रहा। नाकामयाबी ही इस कब्रिस्थान की कहानी है। तू अभी से इसका क्यों मेहमान बनना चाहता है। यहां तुझ जैसे न जाने कितने ना समझ जल्दी के कारण आ गये, बेचारे, कुछ जानते ही नहीं थे, आये थे किस लिए और क्या हो गये,

कोई इसे नहीं जानता था। अगर यह जानते तो बरबाद नहीं होते। जिन्दगी के आगे मौत हार जाती है। लेकिन वे सब नदान और ना समझ। तू भी नासमझी से काम ले रहा है। मौत के पीछे जिन्दगी को खींच रहा है। मौत की कीमत कर रहा है, जिन्दगी की इज्जत और आबरू को उखाड़कर फेंक रहा है। जिन्दगी की हर घड़ी तूफान लाती है, उसमें आफत होती है, दर्द होता है, पर इन्सान की ताकत के आगे सब हार जाते हैं। लेकिन तुझ जैसे कितने उस तूफान में उजड़ गये। अपने को नाकामयाब समझते रहे। परन्तु उनकी यह नाकामयाबी, नाकामयाबी नहीं, उनका भ्रम है। इन्सान वह है जो मौत के आगे हाथ टेक रहा है। हाथ टेकने का नाम जिन्दगी नहीं, मेरे दोस्त, जिन्दगी का नाम तो लड़ना है। आ तुझे जिन्दगी से हारे हुए नाकामयाब कुछ नये चन्द दोस्तों से वाकिफ करा दूँ। समझले, देखले, उनकी हरकतें।

इसी समय चमगादड़ लड़ने लगे थे। बादल भी हटने लगे थे। हवा अधिक ठंडी हो चली थी। पहले जैसा घना अंधकार नहीं रह गया था। कब्रें दिखाई पड़ती थीं। उस समय केवल आवाज ही सुनाई पड़ती थी। वहाँ पर कोई इन्सान दिखाई पड़ता था। शायद किसी की रूह थी। आवाज फिर बुलन्द हुई— "वह देख पीपल वाला कब्र को, उस कब्र को बने कुछ ही दिन हुये हैं। उसमें एक सताए हुये मजदूर की मिट्टी पड़ी है। मौत की आखरी घड़ी तक लड़ता रहा, पर अंत में टूट गया, बेचारा। दौलत का शिकार बन गया। इसका नाम श्यामू था। लखनऊ के तालुकेदार की कोठी बनाने में खून का पसीना किया करता था। गर्मी के दिन थे। जानवर भी गर्मी में छांव को ढूँढता है, फिर भला इन्सान क्यों न ढूँढेगा। यू० पी० में भी तो गर्मी की अपनी शान है। मोठ के द्वारा कूएँ से पानी निकाला जाता था।

निरन्तर श्रम के कारण और गर्मी की गरम लूह के कारण एक प्रौढ़ बैल दम तोड़ बैठा तालुकेदार साहब को बड़ी चिन्ता हुई। काम बन्द होने का डर पैदा हो गया। उनकी शोध की प्रकृति ने अचानक ही श्यामू की ओर उन्हें खींच लिया। बैल की जगह श्यामू जोता गया। यह पहला समय था जब इन्सान जानवर के साथ जोता गया था। आफत का मारा बेचारा क्या करता जुत गया। पहले दिलासा दी गई कि शहर से दूसरा बैल ले आएँगे। लेकिन जब काम चलता देखा, तब नीयत बदल गई। क्योंकि इन्सान बैल बन चुका था। एक दिन खूब गर्मी थी, गरम लूह चल रही थी। पैर ठीक से नहीं पड़ते थे। शरीर से पसीने की धार इस तरह बह रही थी मानों नहाने के उपरान्त पानी चू रहा है। काम धीरे २ चल रहा था। श्यामू भी जरा छाया में बैठकर सुस्ता रहा था। इतने ही में तालुकेदार साहब आ गये। श्यामू पर निगाह पड़ते ही गरजने लगे।—नमकहराम, गद्दारी सीख रहा है। कमीने आराम तलबी का पैसा लेता है। पचास कोड़े लगवाऊँगा, खाल खींच लूँगा। श्यामू की सिट्टी-पुट्टी गुम हो गई आत्मग्लानि से जल उठा, मन ही मन धिक्कारा अपने आपको। फिर खाली बैल की जगह आकर इन्सान जुत गया। आत्मग्लानि से वह बेज़ार था। बड़ी तेजी से मोठ की रस्सी खींचने लगा। बैल की ताकत भी उसके आगे ढीली पड़ने लगी इस बीच भरी मोठ की रस्सी बीच में टूट गई। सब लोगों ने देखा कि बैल आकाश देख रहा है और श्यामू कुएँ की दीवाल पर खून से सना पड़ा है। उसका सिर फूट चुका था। खून तेजी के साथ बह रहा था। तालुकेदार साहब ने आकर अपनी रईसी शानदार सहानुभूति दी—साला, हरामी, पागया आराम का फल। और तीसरे दिन श्यामू हमारी इस महफिल में शरीक हो गया। वह उसकी मज़ार है। यह दौलत की शिकार थी। समय से दबा

हुआ था शोषित था। क्या कर लेता बेचारा उनका। वह तो जिनका था। अन्त तक मौत से लड़ता रहा, लेकिन चोट बड़ी गहरी थी, तीन दिन तक चल गया यही गनीमत थी।

एक ठंडी आह भरने की हलकी आवाज सुनाई पड़ी। तब उस आवाज ने रुककर फिर कहा—मौत बड़ी मुश्किल से आती है, मेरे दोस्त! बहुत लड़ा बेचारा, लेकिन चोट ने उसे मजबूर कर दिया था। आधी रात बीती होगी, उल्लू की आवाज सुनाई पड़ी, हवा सन-सना रही थी। आवाज ने फिर कहा—और वह देखो उन दो मजारों के बीच एक छोटी सी मजार है। आजू बाजू माँ-बाप हैं और बीच में बच्चे को दफनाया गया है। इनकी भी दर्दनाक मौत हुई। जमाने ने इन्हें बहुत सताया। इनमें धैर्य की कमी थी,अन्त में बेचारे हमारे यहाँ आ ही गये। यह एक प्रसिद्ध सेठ के यहाँ नौकरी किया करता था। सेठ की पचपन वर्ष की अवस्था में तीसरी शादी हुई। जब उसकी नई बीबी आई तब उनका यौवन बुढ़ापे की काली छाया के नीचे सो गया था। जब कभी उसमें यौवन की तरंगे उठती तो ऐसा लगता कुचला हुआ साँप फुफकारना चाहता है। उसकी फुफकार में ऐसा लगता बाप बेटी को चूम रहा है, दुलरा रहा है। जब कभी उनकी गोद में सेठ साहब सोने लगते तब ऐसा महसूस करना पड़ता था कि बेटी अपने थके बाप का सिर थपथपा रही है। वह उनसे असंतुष्ट थी। अचानक ही उसकी निगाह इस रमेशचन्द्र पर पड़ी, भीगती रगें, उठता हुआ सीना, भरा भरा जिस्म और मुस्कराता हुआ चेहरा, उसकी आंखों में भर गया। इसने उससे अपना सम्पर्क बढ़ाया। अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कई तरीके इस्तेमाल किये, पर वे कामयाब नहीं हो सके। रमेश चरित्रवान था तो वह भूखी थी। रमेश एक पत्नीव्रतधारी था, तो वह तीसरी पत्नी थी। रमेश बहुत पा गया था किन्तु वह पाना चाहती है।

रमेश यदि एक पुत्र का पिता था तो वह भी मां बनना चाहती थी। रमेश आदर्शों में बंधा था तो वह उफान में बही जा रही थी। दोनों एक दूसरे के लिए भिन्न थे। वह उसे पाना चाहती थी किन्तु रमेश.......। हताश नई सेठानी ने उसके खिलाफ कुचक्र रच चोरी का दोष लगाकर निकाल दिया। तब रमेश बाबू नौकरी के लिए घर-घर, दुकान-दुकान, आफिस २ फिरते रहे। सभी पूछते थे पहले नौकरी कहाँ करते थे। वे सब कुछ बता देते, किन्तु इनकी ईमानदारी पर कोई विश्वास नहीं करता। करते भी कैसे, जब ईमानदार होते तभी न। रोज रोज खाली मुँह लटकाये घर आते। धीरे-धीरे सब खर्च हो गया, फांकों की नौबत आई, और फिर ये लोग पानी पीकर रहने लगे पर चार साल का बच्चा कैसे रह पाता। रोज शाम को मुँह लटकाये हताष कर घर पहुँचते। बेटा मां के पैरों के पास खड़ा २ कहता रहता—बाबू, पैसे लाए दें, तब हम लोती थायें दें। एक दिन शाम को जब रमेश लौट रहा था, तब पुराने सेठ साहब की इमारत के पास से गुजर रहा था। तब एक चिट उसके आगे आकर गिरी। उसमें केवल यही लिखा था मर्द बनते हैं। उसने आँख उठाकर ऊपर देखा सेठानी हँस रही थी, मानों उसके घावों पर किसी ने नमक छिड़क दिया हो। मन ही मन वह बुदबुदाता हुआ घर पहुँचा, पत्नी आज रोती हुई खड़ी थी, बेटा बेहोश पड़ा था। रात को रमेश ने पत्नी पुत्र और स्वयं की छाती में खंजर भोंककर सदा की झंझटों से छुटकारा पा गया। देखा, तुमने कितनी दर्दनाक मौत थी। क्या करता बेचारा, उसका चरित्र उसको रोकता था, वरना क्या वह इतनी जल्दी यहाँ आ जाता? वह नासमझ था, दुनियाँ में हमेशा चरित्र ही साथ नहीं देता। उसे समय २ पर समय के अनुसार मोड़ देना चाहिये। दुनियाँ के सामने इन्सानियत दिखाना एक बड़ी भारी भूल है। दुनियाँ न

तो चरित्रवान है और न इन्सानियत की कद्र करना जानती है। समझदारी से काम लेता तो इतनी जल्दी तबाह नहीं होता, लेकिन शायरी, नासमझी तूने खिलती हुई जिन्दगी के चमन को वीरान कर दिया। याद रख मेरे दोस्त, समय के साथ खुद को बदलो। झूठ और पाप से अगर किसी का भला होता है तो उससे मुख न मोड़ो।

इसी समय सियार और कुत्तों के चिल्लाने की आवाज आई। सुरेश चौंक पड़ा। आवाज ने कहा--"डरो नहीं, और कोई आनेवाला है, उसकी यह सूचना है। देखा तुमने शोषण और चरित्र के कट्टरपन की लाशों को। और वह देखो उस छोटी सी मजार को, उसमें इन्सानियत की बदबू का शिकार एक युवती की लाश पड़ी हुई है। इन्सान अपनी भूख के लिए क्या नहीं करता और नासमझ किस तरह ठोकर खाता है, उसे देखकर ध्यान हो आता है। जरा सी नादानी जिन्दगी को बदल देती है। वह युवती बाल विधवा थी, विवाह बड़ी छोटी सी उम्र में हुआ था। वह 'पति' को समझ ही नहीं पाई थी कि वे चल बसे। दस वर्ष की अवस्था में वह विधवा हो गई। सोलह वर्ष की आयु में यौवन की सिहरन से वह जाग उठी। इसी समय उसका सम्बन्ध गाँव के बनिये के लड़के से हो गया। धीरे-धीरे यह चर्चा घर-घर पहुँच गई। अन्त में इसे भी घर छोड़कर, समाज छोड़कर भागना पड़ा, भागने से पहिले वह बनिया के लड़के से मिली। उसने सान्त्वना दी लेकिन आश्रय नहीं। थोड़ा बहुत पैसा भी दिया और फिर अलविदा। गाँव से भागी हुई युवती को शहर में शरण मिली। युवती का यौवन अपने उषाकाल में था। वह लोगों की निगाह में चढ़ गई। आदम-खोर चीलें मांसलता की खोज में थी ही उन्हें खुराक मिल ही गई। नई नई चीलें रोज रोज आती मांसलता की मनोहरता को नोंच नोंच खातीं और खेल करतीं। धीरे धीरे जब असाध्य हो गया

मांस में खुशबू और तरावट नहीं रही। तब वह खाट पकड़ बैठी, रोग बढ़ चला, टी० बी० ने उसे धर दबाया था। एक बुढ़िया ही उसके पास रह गई थी। जब उसने टी० बी० सुना तो वह भी दूसरा घर देखने चली गई। अब चीलें भी नहीं आतीं थीं, क्योंकि मांस में बदबू आती थी, मक्खियाँ भिनभिनाया करती थी। एक जमाना था जब भौंरें भनभनाने के लिए तरसा करते थे। कितनी स्वार्थी थी ये चीलें। जब वह मर गई तब उसकी लाश को भी किसी ने नहीं उठाया। मांस के नाम पर केवल हड्डियों का ढांचा रह गया था। कुत्तों ने उसे खींचकर यहाँ तक ले आया, हवा ने धीरे-धीरे उसकी छोटी सी मजार बना दी। देखा तुमने, उसके जीवन की इस छोटी सी घटना को, जीवन को बदल गई। समाज की स्वार्थन्धता को देखा तुमने। एक कली को मसलकर फेंक दिया। वह नादान थी उसमें जोश था, एक उमंग थी, उसी में बह गई। समझदारी होती तो क्या जिंदगी कामयाब नहीं होती ? उसकी तरह बहुत सी समझदारी के साथ जीती हैं। जीती इस लिए हैं कि कहीं चीलें भूखी न मर जांय। उसके पास इन्सान का दिमाग था, इन्सान का जिगर था, परन्तु वह नादान थी, जिन्दगी को समझने से पहिले ही उसे खो चुकी थी, कामयाब होती कैसे ? फिर तो नाकामयाबी का अड्डा ही है। यहाँ कोई नहीं आता, आते वही हैं जो नाकामयाब होते हैं। जो जिन्दगी को समझते हैं, उन्हें कोई जबरन नहीं समझने देता, और जो समझकर उसे कार्य रूप देना चाहते हैं, उन्हें बीच ही में कोई तोड़ देता है, और तो कई समझने के पहले, बिदा हो जाते हैं। तुम भी नासमझ हो, जिन्दगी को समझो, उसकी खूबियों को देखो समय के अनुसार अपने को बदलो, निरी आदर्शता में जिन्दगी का अंत मत करो। और वह देख लो एक संगमरमर की मजार। उसे देखकर तुम समझ ही गये

होंगे कि यह किसी धनिक की है। सुरेश ने चांदनी के धूमिल प्रकाश में उस श्वेत मजार को देखा। बादल आकाश में कहीं-कहीं लुक छिप खेल रहे थे।

इसमें एक धनिक पुत्र की लाश पड़ी हुई है। यह एक भावुक और सीधा सादा युवक था। विद्याध्ययन में तेज था, और इसे किसी चीज का शौक भी नहीं था। केवल अंग्रेजी फिल्में देखा करता था। भारतीय फिल्मों के प्रति कहा करता था, यह तो पाश्चात्य फिल्मों की जूठन है, इसमें न तो कला है और न विविधता। वह अंग्रेजी फिल्मों में ही मस्त था। अपनी डायरी में अभिनेत्रियों के 'रेखा-चित्र' लिखा करता, वह उसमें यौवन की परिपक्वता को पाता, अपनी कोई, हुई भावना को उसमें उभरा हुआ पाता। अध्ययन में तेज होने के कारण लड़के और लड़कियाँ उससे सलाह लेने आते। एक दिन रीता जो उसकी पडोसिन थी, उससे अंग्रेजी Home-Work के विषय में पूछने आई। पहले तो उसे समझाता रहा फिर अचानक क्या सूझा सौन्दर्यवाद की मीमांसा करने लगा। उसकी मीमांसा मौखिक होते होते कार्य रूप ले बैठी, तब रीता चिल्ला तो नहीं सकी, पर फूट-फूटकर रोने लगी। उसके बाद उसे मुक्त करता हुआ, अपने टेबल पर आ बैठा। जब वह चली गई तब उसने डायरी में लिखा........कल क्या होगा........ बदनामी........जीना। उसी रात को अफीम खाकर सो गया। सबेरे बड़ी शान के साथ इसका जनाजा हमारी इस वीरानी बादशाहत में आया। उसकी संगमरमर की मजार बनी, जनाजे के साथ बड़े-बड़े लोग भी आये थे, एक शायर भी थे, जिन्होंने चलते-चलते एक शेर कहा—

"रंग मायूसी सरे गोरे गरीबाँ आम था,
जर्रे-जर्रे में लिक्खा में नाकामयाब था,"

ये शायर भी बड़े अवसरवादी होते हैं, खुश करने के लिए समय

का ख्याल न कर शेर सुनाकर प्रभावित कर दिया । क्या करें वे भी, ऐसा न करें तो उनका पेट भी हड़ताल कर कर बैठे ।

देखा मेरे दोस्त, इस दुनियां में कैसे २ लोग होते हैं । जो जरा सी भावुकता में वहकर जिन्दगी को खत्म कर देते हैं । उसे सब कुछ प्राप्त था, लेकिन व्यवहारिक-ज्ञान नहीं था । उसकी मौत दमित वासनाएँ उस दिन विस्फोट कर बैठी । अनजाना, उसी से डर गया । नादान, जिन्दगी को मखौल समझते हैं, उसकी हकीकत से मजाक करते हैं । मगर याद रखो नादानी से जिन्दगी को खो बैठोगे । जिन्दगी जीने के लिए है, मौत के लिए नहीं । इन्सान वह है जो मौत को भी पछाड़ दे । इन्सान को इतनी शक्ति उपार्जित करनी चाहिये कि वह समाज के रस्मारिवाज को दुनियाँ की बेइन्साफी को, शासक के शोषण को, उखाड़ कर फेंक दे । इन्सान का सबसे बड़ा उसूल है कि वह इन्सान को इन्सान समझे । मौत को पछाड़ दे, प्रयत्नों की हार को जिन्दगी की हार न समझे । लगातार कोशिशें निराशा से आशा की ओर मौत से जिन्दगी की तरफ ले जायँगी । नाकामयाबी कामयाबी का पहला कदम है । इतनी जल्दी खुद से न हार जा, जा यहां से भाग जा, मौत से जिन्दगी की तरफ, पीछे घूमकर भी न देखना । भाग जा नादान, नाकामयाब लोग यहां आते हैं, तू अभी जवान, तेरी रगों में जवानी का खून है, इसकी ताकत को पहचान, उसका फायदा उठा । जा भाग . . भाग........जा . ... ।

पूर्व मे सूरज की किरणें जीवन का संदेश देती हुई प्रकाशित हो रही थी, चिड़ियाँ चहक रहीं थीं । सुरेश तेजी के साथ नगर की ओर बढ़ा जा रहा था, मौत से जिन्दगी की तरफ, मजार से महल की तरफ ।

'त्रिवेदी-निकुंज'
सीतामढ़ी, नागपुर (म० प्र०)

कब तक ?

(श्री ज्ञान स्वरूप)

कई लोगों का विचार है कि निर्धन वह है जिसके पास धन न हो और कई एक का दृष्टिकोण है कि निर्धन तो वह है जो अपने को निर्धन समझ ले। परन्तु हम तो हर रूप में निर्धन ही ठहरे। घर में मुझे और मेरी माँजी को ही क्या, मेरे नन्हे बहन-भाई को भी अपनी निर्धनता का पूरा-पूरा एहसास है। वे अमीर मां-बाप के बच्चों की तरह मुँह-फट नहीं कि नित नए तकाज़े करते रहें। वे अपनी उचित से उचित मांग भी पेश करने से पहले कई बार सोचते हैं। वे फर्माइशें नहीं करते बल्कि अपने विशेष इशारों से अपनी जरूरतें मुझ पर प्रकट कर देते हैं और मैं स्वयं ही उनसे प्राय: उनकी जरूरतें पूछ लेता हूँ।

मोरा नवीं क्लास में पढ़ती है। मैंने इस दुबली-सी लड़की को हंसते तो कहां, मुस्कराते भी बहुत कम देखा है। उसके चेहरे पर शोखी के बदले, एक घनी उदासी छाई रहती है। कई बार दुकान को जाते समय मैंने विभिन्न चौराहों पर स्कूल की बसों की प्रतीक्षा में खड़ी मोरा जितनी आयु की लड़कियों को देखा है। उनके खिलखिलाते हुए चेहरे और मोरा की बुझी बुझी सी सूरत ....। मैं यूं ही सोचने लगता हूँ........। शायद मेरी बहन को इस आयु में अपनी निर्धनता का कटु अनुभव हो गया है।

मोरा को जब भी कोई चीज चाहिए वह चुपके से मेरे पास आ बैठती है और चुपचाप बैठी मुझे अजब निगाहों से घूरती

रहती है। मैं नजरों का अभिप्राय खूब समझता हूँ और मुझे स्वयं ही पूछना पड़ता है:—'क्या बात है मोरा ?'

लेकिन मेरा छोटा भाई राजी जो कि अभी छठी में पढ़ता है अपनी जरूरतों को प्रकट करने के लिए तनिक भिन्न ढंगों को काम में लाता है। राजी यूँ तो मेरे घर लौटने से पहले ही सो जाता है, लेकिन जब भी उसे जरूरत का रोग हुआ, वह रात गए तक दरवाजे की चौखट में बैठा मेरे दुकान से वापस आने की प्रतीक्षा किया करता है और उस दिन दो नन्हीं-सी ऊँघती आंखें मेरा स्वागत करती हैं। मैं एक सफल डाक्टर की तरह उसके रोग को भांप लेता हूँ और मुझे खुद ही पूछना पड़ता है :—

'क्या बात है राजी साहब ?'

मोरा वैसे तो हर रोज मेरे दुकान को रवाना होने से पहले ही अपने स्कूल को चल देती है लेकिन आज सुबह मोरा असमान्य तौर पर स्कूल जाने के लिए तैयार दिखाई देती थी। वह चुपचाप मेरे पास चारपाई पर आ बैठी थीं और मुझे अपने विशेष अन्दाज से घूर रही थी।

'क्या बात है मोरा ?' मैंने खूब समझ लिया था कि मोरा को किस चीज की ज़रूरत थी।

'कुछ भी नहीं।'

'नहीं, कुछ तो है।'

'नहीं, तो।'

'अच्छा तो यह बात है······ हमें भी नहीं बताओगी।' मैं ने स्नेह से उसकी पीठ सहलाते हुए कहा।

'मैं स्कूल नहीं जाऊँगी।' वह मचलते हुए बोली।

'अरे भाई क्यों ?'

'बस······कह जो दिया।' मोरा की आखें डबडबा रही थीं और उसकी आवाज रुंध चली थी।

'फिर भी ?' मैंने नम्रता से पूछा।

'मेरे पास भूगोल की किताब नहीं है।'

और मुझे जैसे सांप ही तो सूंघ गया हो।

'बहन जी मुझे सारा-सारा पीरियड बैंच पर खड़ा रखती है।" मोरा की आंखों में आँसू फूट आए और रुंधी आवाज सिसकियों में बदल चुकी थी। परन्तु मैं चुप था और मोरा की निर्जीव गालों पर लुढ़कते हुए आंसुओं को तकता रहा।

'मैं खड़ी-खड़ी थक जाती हूँ।' मोरा घुटन से दबी आवाज में कहे जा रही थी और मैं पूर्ववत चुप्पी साधे था।

'और..फिर....भैया..।' मोरा ने मुझे चुप पाकर मेरे घुटनों को झंझोड़ते हुए कहा, 'मुझे ऐसे पता लगता है जैसे किसी ने मेरी टांगों में से हड्डियां निकाल दी हों।'

'अरे बस इत्ती सी बात पर इत्ते बड़े आंसू। चल हट पगली.. भूगोल की किताब ही तो चाहिए न....लो आज ही लो।' मैंने मोरा की पीठ थपथपाते हुए कहा हालांकि मैं जानता था कि मेरी जेब में केवल चौदह आने से ज्यादा की रकम न थी और भला भूगोल की किताब दो-तीन रुपये से कम में क्या आएगी। जी चाहता था कि अपनी बेबसी पर दिल भर कर रोऊं, चीखूं, चिल्लाऊं और एक हंगामा बरपा कर दूं। लेकिन यह सब कुछ मोरा के सामने क्यों कर हो सकता था।

'आज किताब आजायेगी न ?' उसकी उदास आंखें कुछ संतुष्ट थीं।

'हां, हां, क्यों नहीं' मैंने दृढ़ता से कहा।

मोरा ने पल्लू से आंखें साफ कीं और बस्ता उठाकर चल

दी। जाते वक्त उसने दरवाजे में खड़ी होकर मेरी तरफ़ मुड़ कर कुछ इस तरह देखा जैसे कह रही हो, 'देख लो भैय्या किताब जरूर आजाए वरना—मेरी टांगें......।'

मोरा जा चुकी थी और मैं म्युनिसीपैलिटी वालों को कोस रहा था जिन्हें मैं कल ही अपनी दूकान पर सप्ताह-भर में एक भी नागा न करने के जुर्म में २०) रुपये जुर्माना दे आया था। कमबख्त चाहते हैं कि सप्ताह में एक नागा अवश्य हो। चाहे उस दिन किसी के घर में रोटी तक न पके....। मैं पागलों की तरह बुड़बुड़ाने लगा और दूसरे कमरे से मांजी बोली: 'क्या कह रहे थे रामकिशन ?'

'कुछ नहीं मांजी....यही कह रहा था। साथ के लिये रोटी बांध दो, दुकान का वक्त हो गया है।' मैंने अपनी झेंप मिटाने को कहा।

अभी मैंने फुटपाथ साफ करके दरी ही बिछाई थी कि जैन क्लाथ इम्पोरियम के मालिक जैन बाबू पास तशरीफ़ ले आए और छूटते ही बोले:—'कहो भाई रामकिशन। गवर्नमेंट दुकानें कब दे रही है तुम्हें ?'

'जैन बाबू कुछ कहा नहीं जा सकता। आखिर गवर्नमेंट के काम हैं।' मैंने संक्षेप में कहा।

वास्तव में जैन बाबू की यह चिर-अभिलाषा थी कि मैं उनके क्लाथ इम्पोरियम की पटरी से अपनी दुकान हटा लूँ। उनके समीप मेरी दुकान उनके इम्पोरियम पर एक धब्बा थी। जैन बाबू ने कभी सीधे तौर से मेरे मुंह लगने की चेष्टा न की थी, क्योंकि उन्हें मालूम था कि मैं पटरी-व्यापार मंडल का सेक्रेटरी हूँ।

'तुम नौकरी क्यों नहीं कर लेते ?......खैर से पढ़े लिखे हो।'

जैन बाबू ने यूंही बातचीत को जारी रखते हुए पूँछा ।

'कोशिश तो कब से कर रहा हूँ । बाकी चिंता न कीजिये जैन बाबू. . जिस दिन भी नौकरी मिल गई उसी दिन बोरिया-बिस्तर गोल कर लूंगा ।' मैंने बातचीत को ख़तम करने के लिए कठोरता से जवाब दिया ।

'भई मेरा कोई यह मतलब थोड़ा ही था....वैसे ....जैसे तुम समझ लो ।' जैन बाबू हिनहिनाते हुये अपनी दुकान को चल दिए ।

मोरा के लिए भूगोल की किताब मेरे लिए एक समस्या बनी हुई थी । कभी कभी कोई भूला-भटका गाहक आ निकलता ।

'लट्ठा है ?'

'जी नहीं । मेरे पास तो सिर्फ़ धोतियां ही हैं ।' मेरी आशाओं पर गोया ओस पड़ जाती । गाहक साथ की पटरी वाली दुकान पर चला जाता और वह दुकानदार अपने पास लट्ठा न होने पर भी जैन क्लाथ इम्पोरियम से ब्लेक में लट्ठा खरीद कर गाहक के हाथों ज़रा ऊँचे दामों में बेच देता ।

दोपहर ढलने लगी थी और फिर जैसे गाहकों का तांता बंधने लगा ।

'मलमल होगी ?'

'जी नहीं ...मेरे पास तो सिर्फ़ धोतियां ही हैं ।'

'ज़ीन मिलेगी ?'

'जी नहीं.. मेरे पास तो सिर्फ धोतियां ही हैं ।

गाहक आते रहे, पूछते रहे और मैं अपना विशेष जवाब दोहराता रहा । न जाने रह-रह कर क्यों विश्वास हुआ जा रहा था कि आज धोतियों का कोई गाहक नहीं आयेगा खैर इस विश्वास के संग-संग मन में ब्लेक करने का विचार करवटें लेने लगा,

परन्तु दूसरी तरफ जैसे कोई दिल में कह रहा था 'पागल हो गया है रामकिशन ! भला तू क्योंकर ब्लेक कर सकता है—तू . . तू तो एक जिम्मेदार व्यक्ति है....पटरी व्यापार मंडल का सेक्रेटरी....।' और अभी मैं इसी उधेड़-बुन में ही था कि दो गाहक तशरीफ ले आए। मेरी खोजती आँखों में एक चमक पैदा हो गई।

'लट्ठा है तुम्हारे पास ?' उनमें से एक ने पूँछा। जी में आया कि अपना विशेष जवाब एक बार फिर दोहरा दूं, लेकिन फिर जैसे कहीं दूर से मोरा की रुंधी हुई आवाज़ आई 'भैया.... मेरी टांगें ....।'

गाहकों में शायद सबर नहीं था। 'हाँ भाई कहो न लट्ठा है या नहीं।'

'सब कुछ मौजूद है साहब.......फर्माइये कितना चाहिये आपको।'

'सवा छ: गज।'

'जरा रुकिये।.......मेरा मतलब है तशरीफ रखिये। अभी लाकर देता हूँ।'

मैं गाहकों को वहीं खड़ा करके जैन क्लाथ इम्पोरियम से स्वयं लटठा खरीद लाया और गाहकों के हवाले कर दिया।

'कितने पैसे हुये ?'

'बस ....सिर्फ सोलह रुपये छ: आने छ: पाई।

'वह कैसे ?'

'दो रुपये दस आने फी गज के हिसाब से।'

'तो भाव बढ़ गये हैं क्या ?'

हाँ साहब आप तो जानते हैं। गवर्नमेंट की बातें जो ठहरी .... वैसे मैं तो आपको कंट्रोल रेट पर ही दे रहा हूँ।' मैंने चतुरता से जवाब दिया। गाहक सन्तुष्ट

हो गये और उन्होंने रकम मेरे हवाले कर दी। दूसरे क्षण मैं पुलिस के घेरे में था। वे लोग एन्फोर्समेंट पुलिस के सदस्य थे। एक अच्छा खासा मजमा लग गया। बच्चे भीड़ की टांगों से बचते-बचाते मेरी सूरत पर एक निगाह डालने के लिए बढ़ रहे थे और हर ओर से घृणा-पूर्वक आवाजें कसे जा रहे थे।

'मुँह काला करके गधे पर घुमाओ।'

एक मोटे शीशों की ऐनक वाला क्लर्क अपनी छाती को जरूरत से ज्यादा फैलाकर कह रहा था, अजमलखाँ पार्क में सबके सामने फांसी देनी चाहिए। हम लोगों का ब्लेक से कचूमर निकल गया है।'

पक्की दुकानों वाले कह रहे थे, 'इन सालों ने भी क्या उधम मचा रखा है।'

मैं पिछले एक घंटे से इन्सपेक्टर साहब के कमरे में खड़ा था और फिर जब इन्सपेक्टर साहब ने अपने मित्रों की बातचीत से जरा छुट्टी पाई तो मुझसे बोले:—

'कहो सेक्रेटरी साहब······ कोई जमानत देने वाला है?'

मैं चुप था।

'जलूस तो बड़े धमाके के निकालते थे और वे नारे···'

मैंने ग्लानि से सिर झुका लिया। मेरी टांगें कांप रही थीं। ऐसे लग रहा था जैसे मोरा की टांगों की थकावट मेरी टांगों में सिमट कर आ गई हो और किसी ने मेरी टांगों में से हड्डियां निकाल ली हों। मैं धम से फर्श पर बैठ गया।

'बेलासिंह! इन्हें बाहर बरामदे में बेंच पर लिटा दो। और हां, देखो······कोई तकलीफ न होने पाए···सेक्रेटरी साहब हैं।"

उन्होंने व्यंगपूर्ण स्वर में एक कांस्टेबल को आज्ञा दी। मैं नहीं जानता कि कितनी देर मैं बेंच पर बेसुध पड़ा रहा। इस दौरान में इन्सपेक्टर साहब बाहर आ गए और मुझे कन्धों से पकड़ कर बिठा दिया।

'आप तशरीफ ले जा सकते हैं। सेक्रेटरी आ ऽ ऽ····ऽ····प····'

मैं अवाक् हो इन्सपेक्टर साहब की ओर देख रहा था कि जैन बाबू गर्व सहित बोले 'चलो उठो रामकिशन मैंने तुम्हारी जमानत दाखिल करवा दी है।'

'शुक्रिया जैन बाबू·······आप यहां हैं ?' मैंने अपने क्षीण स्वर में कहा।

'अरे भाई रामकिशन ! शुक्रिया कैसा, आज मैंने तुम्हारा काम किया है। कल तुम मेरा कर दोगे।'

'हां क्यों नहीं जैन बाबू। मैं कल से आपके इम्पोरियम के आगे पटरी पर दुकान नहीं लगाऊँगा' मैंने जैन बाबू के 'काम' का अभिप्राय समझते हुए आह भर कर कहा।

'भाई मेरा कोई यह मतलब थोड़े ही था। वैसे जैसे तुम समझ लो।' जैन बाबू होंठो तले मुस्करा रहे थे।

रात ग्यारह बजे जब मैं घर लौटा तो मेरे परेशान दिल को इतनी ढाढस तो अवश्य थी कि कम-से-कम घर वाले तो सो चुके होंगे। लेकिन आशा के विपरीत यहां तो राजी मियां दरवाजे की चौखट में बैठे ऊँघ रहे थे। मैंने उसे झंझोड़ते हुए पूछा:—

'क्या बात है राजी ?'

राजी ने मेरी बात का कोई उत्तर न दिया। बल्कि आँखें मलते हुए अपनी पीठ मेरी तरफ कर दी।

'भई यह क्या ?'

'खुद ही देख लीजिए न ?'

मैंने आँखें फाड़ फाड़ कर नज़र दौड़ाई और फिर यह जानने में देर न लगी कि राजी की इकलौती निक्कर फट रही थी।

'कल से स्कूल जाना बन्द।'

'लेकिन भई तुम अपनी कमीज़ निक्कर से बाहर निकाल लिया करो न ......' मैंने सुझाव दिया।

'वह तो पहले ही निकाल कर देख चुका हूँ। लेकिन भैय्या! लड़के पीछे से कमीज़ उठाकर 'हिप-हिप-हुर्रा' कर देते हैं। बड़ी शर्म आती है।' कितने दुखदायक थे सीधे-साधे, परन्तु अपने दामन में कड़वी सच्चाई को छिपाए, राजी के ये शब्द!

'अच्छा राजी कोई बात नहीं। कल ही लेता आऊँगा देहली क्लाथ की बनी बनाई निक्कर।' मैंने उसे दिलासा देते हुए कहा। राजी के चेहरे पर एकाएक खुशी की एक लहर सी फैल गयी, बिलकुल ऐसे जैसे सुबह मोरा के चेहरे पर फैली थी, और वह कूद कर अपनी चारपाई पर जा लेटा।

रात भींग चली है। और सन्नाटा वातावरण के अंग अंग पर अधिकार जमाए है। कमरे के किसी दीवार में घुसा कोई कीड़ा सीटी-सी बजा रहा है। मांजी, मोरा और राजी सभी सो रहे हैं। मैं अपनी खाट पर जिसे मैंने आराम कुर्सी का आनन्द लेने के लिए ढीला रखा हुआ है पड़ा-पड़ा राजी के निष्कपट चेहरे पर ज्वार-भाटे की भाँति फैलती और सिमटती मुस्कराहट को देख रहा हूँ। मैं भली-भांति जानता हूँ कि राजी ज़रूर स्वप्न में देहली क्लाथ मिल्स की बनी बनाई निक्कर पहने अपने मित्रों के आगे अपनी निक्कर की शेखियां बघार रहा होगा। मोरा नींद की दशा

में अपनी थकी-मांदी टांगों को जोर-जोर से बिस्तर पर पटक रही है। मेरा दिमाग शल हो चुका है। मेरा दिल मेरे सीने में खामोश हो रहा है, मेरी आँखें जल रही हैं, और अब जबकि मैं अपनी पलकों को झपकूँगा तो आँसू मेरे खुर्दरे गालों को जलाते हुए बूँद-बूँद मेरे मुंह में आ गिरेंगे। वे मेरी जीभ पर पड़े-पड़े नमकीन, कड़वे नमकीन और फिर बिलकुल कड़वे हो जाएँगे। यहाँ तक कि मैं उन्हें अन्दर निगल जाऊँगा और न जाने कब तक यूं ही टांगों में से हड्डियाँ निकलती रहेंगी और फटी हुई निकरों पर "हिप-हिप-हुर्रा" के ताने कसे जाएँगे।

उड़ान

(श्री कृष्ण बलदेव वैद)

एक दिन वह सब काम-धन्धे छोड़-छाड़कर घर से निकल पड़ी। कोई निश्चित प्रोग्राम नहीं था, कोई सम्बन्धी बीमार नहीं था, किसी परिचित का देहान्त नहीं हुआ था, किसी के यहाँ लड़का पैदा नहीं हुआ था, किसी की लड़की की सगाई नहीं थी, कहीं कोई सन्त-महात्मा नहीं उतरा हुआ था, कोई त्यौहार नहीं था..........।

वास्तव में हुआ यह कि बरतन माँजते-माँजते अकस्मात् जाने कहाँ से और कैसे शीला के मन में एक अनजानी तरंग-सी उठी और वह हाथ में पकड़े हुये बरतन को वहीं पटककर, बिना हाथ धोये ही जैसी-की-तैसी कमरे से बाहर निकल आयी और पुकारने लगी—रानी ! ओ रानी !........

रानी का कमरा अहाते के दूसरी ओर छत पर था। आवाज़ लगाते-लगाते शीला की दृष्टि आकाश पर छाये हुये बादलों से टकराई और पानी का एक कतरा उसकी दायीं आँख में आन गिरा। शीला ने एकदम आँख मींच ली और फिर ज़ोर से आवाज़ लगाने लगी—रानी !....ओ रानी !........

और जब रानी ने जंगले से नीचे झाँकते हुये पूछा, क्यों री, नाकजली, क्या हुआ, जो मुँह-अँधेरे बाँगें देने लगी, तो शीला जवाब देने के बजाय खिलखिलाकर हँसने लगी और रानी सवाल दोहराने के बजाय धमधम करती उस हाते के आँगन में आ गई

और आते ही शीला की चोटी पकड़कर खींचने लगी। शीला ने हँसते हुए धमकी दी—छोड़ दो, नहीं तो मुँह काला कर दूँगी!

रानी ने हँसकर जवाब दिया—किसका ?····अपना ?

और फिर दोनों हँसने लगीं और हँसते-हँसते ही शीला ने रानी के कान में कुछ कहा, जिसे सुनते ही रानी ताली पीटकर चिल्लाने लगी—वन्ती !····ओ वींरा !····ओ वन्ती !····

वन्ती और वींरा उसी मकान की निचली मंजिल के दो कमरों में रहती थीं और सब शोर सुन चुकी थीं। वन्ती अपने कमरे के एक कोने में नहा रही थी और वींरा पिछले पहर के लिये थोड़ा-सा आटा गूँध रही थी। रानी की आवाज़ सुनते ही वन्ती ने तुरन्त एक-दो गिलास पानी के इधर-उधर फेंके और एक मैला दुपट्टा बदन पर लपेटकर कमरे से बाहर निकल आई। वींरा ने आटा अधगुँधा ही छोड़ दिया था और पहले से ही शीला और रानी के साथ खड़ी जाने किस बात पर हँस रही थी। वन्ती को देखते ही तीनों बिल्कुल बच्चों की तरह चिल्लाने लगीं—वन्ती ! अरी, कपड़े तो पहन ले, कम्बख्त !

वन्ती खिसियाकर अपने कमरे में लौट गयी और जल्दी-जल्दी पेटीकोट और कुर्ती पहनकर कुर्ती के बटन लगाती फिर बाहर दौड़ आयी। रानी ने आगे बढ़कर कहा—अरी, दौड़ नहीं, तेरे हिस्से का तुझे ही मिलेगा !

वन्ती ने जरा आश्चर्य से पूछा—क्या ?

तीनों ने एक स्वर में कहा—प्रसाद !

और फिर चारों खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

उनकी इस खिल-खिलाहट से अहाते का घुटा-दबा वातावरण मानो चिढ़-सा गया और इस चिड़चिड़ेपन का स्पष्ट प्रमाण था अहाते की मालकिन का फूला हुआ चेहरा, जो अपने हिस्से के सामनेवाली गली में खड़ी इन गँवार छोकरियों के गँवारपन पर दाँत

पीस रही थी। परन्तु जब इन चारों ने आपस में कुछ खुसर-फुसर के बाद अपनी छोटी-सी कान्फ्रेन्स का अन्त एक चीखते हुए क़हक़हे पर किया, तो अहाते का वातावरण मानो बदल-सा गया, यद्यपि उसकी मालकिन का पारा कुछ दर्जे और ऊपर चढ़ गया!

हँसती, चीखती, बल खाती चारों अपने-अपने कमरे में दौड़ गयीं। शीला ने कालिख भरे हाथ जल्दी से धोये। बरतनों का ढेर जहाँ का तहाँ पड़ा रहा। और वह अपनी फूलोंवाली शलवार को ठीक करने लगी। रानी ने झाड़ू उठाकर एक कोने में फेंक दिया और पानी-भरी बाल्टी फर्श पर उंडेलकर उसे एक ओर खिसका दिया और हाथ पेटीकोट से पोंछकर, आँखों में सुरमा डालने लगी। बन्ती पहले से ही सब काम समाप्त कर चुकी थी, केवल आग बुझानी बाकी थी। उसने खड़े-खड़े ही दो-तीन गिलास पानी चूल्हे में फेंका और एक क्षण के लिए सोचा कि सारा चूल्हा गीला हो गया और फिर नये दुपट्टे में सिलवटें डालने लगी। बीरां ने आटे की परात को एक कोने में ढकेल दिया। उसके कमरे में चप्पे-चप्पे पर जूठे बरतन पड़े हुए थे, क्योंकि उसके बच्चे अभी-अभी खा-पीकर बाहर निकले थे। उसने एक-दो गिलास उठाकर ठिकाने लगाये, फिर हाथ धोकर मुँह धोने लगी।

कुछ ही देर बाद जब चारों सहेलियाँ अपने-अपने कमरे को ताला लगाकर अहाते से बाहर निकलीं, तो अहाते की क्रोधित मालकिन आश्चर्य से अँगुली दाँतों में दबाये देखती-की-देखती रह गयी। उन्होंने जाती बार एक आँख उठाकर उसकी ओर देखा तक नहीं।

—नीच घराने की!—अहाते की मालकिन बुड़बुड़ायी कि उसी समय उसके पति ने अन्दर से आवाज दी—अरी ओ, नीच घराने की! यह क्या कर दिया तूने?—और वह अन्दर जाकर पति से लड़ने झगड़ने लग गयी

इधर वह चारों सड़क पर एक-दूसरे के पीछे ऐसे भाग रही थीं, जैसे प्राइमरी स्कूल की लड़कियाँ। रानी ने तो हद ही कर दी। दुपट्टा उसने कमर पर बांध लिया और चोटी को सर पर पगड़ी की तरह लपेटकर यों चलने लगी, जैसे रानी खां की छोटी साली वही हो। वह अब गली से गुजरकर सड़क पर पहुँच चुकी थीं। शीला कह रही थी—रुक जाओ, रानी, ठहरो।.... इधर कहां चल पड़ी हो ?....इधर तो कुछ भी नहीं।... जङ्गल में जाओगी क्या ?

वह इतने जोर से बोल रही थी कि नवाबगंज रोड पर जाने वाले कुछ विद्यार्थी मुड़-मुड़कर देखने लगे। शीला के कई बार चिल्लाने पर आखिर रानी रुकी और कुछ सलाह के बाद उन्होंने निश्चय किया कि उन्हें सब्जी मंडी से ट्राम पकड़नी चाहिए। लेकिन जब वन्ती ने पूछा कि आखिर जाओगी कहां, तो तीनों ने हँसकर जवाब दिया—जहाँ तू ले जाये !

इसपर वन्ती भी हँस पड़ी और वह सब्जी मंडी की तरफ चल पड़ीं।

एक ट्राम खड़ी थी। वह दौड़कर उसमें बैठ गयीं और जब कंडक्टर ने शीला से पूछा—कहाँ जाओगी जी ?—तो शीला ने हँसकर जवाब दिया—उससे पूछो।

कंडक्टर इस अकारण हँसी पर खिझ-सा गया और उसने तिनक कर कहा—किससे पूछूँ ?

शीला ने फिर हँसकर कहा—नाराज क्यों होते हो ? उससे ....रानी से पूछो।

—मुझे क्या सपना आयेगा कि रानी कौन हैं ?—कंडक्टर ने बिगड़कर कहा।

—मैं हूँ रानी।—रानी ने चलती ट्राम में उठकर आगे बढ़के

हुए कहा और दूसरे ही क्षण लड़खड़ाकर एक वृद्ध की गोद में जा गिरी।

शीला, बन्तो और वीरा खिलखिलाकर हँस उठीं और रानी उस वृद्ध की गोद में से उठती हुई बोली—हँसती क्यों हो? अपने पिता समान हैं!—इस पर ट्राम में बैठे सभी लोग हँस पड़े और वह वृद्ध बगलें झाँकने लगा। तब तक रानी उठकर गिरती-पड़ती फिर अपनी सीट पर बैठ चुकी थी।

कुतुब रोड के अड्डे पर जब वह ट्राम से उतर गयीं, तो कंडक्टर ने न जाने किसे सम्बोधित करते हुए कहा—अजीब वाहियात औरतें हैं!—और ट्राम में बैठे एक आदमी ने अपनी पत्नी से कहा—शरम लाज तो जैसे घोलकर पी गयी हैं! और वह वृद्ध बगल में बैठे एक युवक से कह रहा था—साली क्या धम से आकर गोद में आकर गिर पड़ी!—और युवक यह समझने की चेष्टा कर रहा था कि बूढ़ा उस औरत की हरकत की निन्दा कर रहा है या वैसे ही चटख़ारा ले रहा है।

ट्राम से उतरते ही उन्हें फिर सोचने की आवश्यकता हुई कि वह कहाँ जायँ? जब रानी ने अपने मुँह पर अंगुली रखते हुए कहा कि हाय, हम कहाँ आ गयीं, तो शीला ने भोलेपन से ज़वाब दिया—अपनी ससुराल!—और इसपर वह इतने ज़ोर से हँसी कि आस-पास खड़े सभी लोग उनकी ओर देखने लगे। वह हँसी के मारे दुहरी-तिहरी हुई जा रही थी कि दोनों दिशाओं में एक-एक कार केवल उन्हीं के कारण हार्न पर हार्न दिये जा रही है। और जब एक ने पीछे से आकर रानी की टाँगों पर एक हलका सा ठोकर दिया, तो उसकी हँसी एक चीख में बदल गयी उसने मुड़कर कारवाले को पाँच-सात घरेलू गालियाँ देकर विदा किया।

जब वह सड़क के किनारे लग गयीं, तो शीला (जिसकी तरङ्ग

उन्हें घर से निकाल लाई थी) को जाने क्या सूझी, कहने लगी—केनाट प्लेस चलें।

नाम तो सबने सुन रखा था। वन्ती का घरवाला दफ्तर से लौटते समय हर पहली तारीख को कनाट प्लेस से ही फूलों का एक हार उसके लिए ले आया करता है। वीरा का आदमी भी अपने काम-काज के सम्बन्ध में प्रायः कनाट प्लेस जाया करता है, जहाँ उसके सस्ते बिस्कुटों के पक्के गाहक हैं। रानी तो स्वयं भी दो बार कनाट प्लेस हो आयी थी, एक बार उसके अनुरोध पर उसका मर्द उसे आजादी का जलूस दिखाने ले गया था और एक बार वह अकेली घूमती-घामती उधर जा निकली थी।

शीला का सुझाव हाथों-हाथ मान लिया गया और वे एक ताँगे में सवार हो गयीं।

घोड़ा पहले ही काफी तेज चल रहा था, मगर रानी ने जरा नखरे के साथ ताँगेवाले पर चोट करते हुए कहा—भयन, इसी तरह टिक-टिक चलाओगे क्या ?

ताँगेवाले ने घोड़े की पिछली टांगों में छड़ी से इस तरह खोदा कि घोड़ा पनपनाकर हवा से बातें करने लगा। तड़क-तड़ाक घोड़े के पाँव पक्की सड़क पर बजने लगे और तांगेवाला कभी रानी की ओर और कभी शीला की ओर जो उसके बराबर अगली सीट पर बैठी हुई थीं, ऐसे देख रहा था, जैसे इनाम का मांग कर रहा हो। परन्तु रानी और शीला तो घोड़े से भी तेज उड़ रही थीं। रानी का दुपट्टा सर पर तो पहले ही नहीं था अब उसके बदन के किसी भी हिस्से पर नहीं था, नीचे गिर गया था उसके पांव में। शीला के बाल उसकी चोटी से भाग-भागकर इधर-उधर दौड़ रहे थे। पीछे बैठी वन्ती और वीरा बच्चों के समान सिर पर घुटना टेककर आगे की ओर देख रही थीं।

रानी कह रही थी—बच्चे, ओ बच्चे !

शीला कह रही थी—हाय राम ! इतना तेज !

तांगेवाला कह रहा था—कहो तो और तेज कर दूँ ?

वन्ती और बींरा पीछे से बोल उठीं—हां, भाई, और तेज और तेज....

तांगेवाला पावदान पर खड़ा ललकारने लगा--आ हा-ह-हा ""।

और सड़क पर आने-जानेवाले लोग इस फर्राटे भरते हुए तांगे पर दृष्टि तो न जमा सकते थे, पर टीका-टिप्पणी सभी कर रहे थे। यदि वे किसी तरह सब एक स्थान पर इकट्ठे हो जाते, तो सर्वसम्मति से निर्णय हो जाता कि तांगे में अवारा छोकरियां बैठी हैं, तेज कैसे न दौड़े ?

लेकिन चूँकि तांगा आवारों का न था, इसलिए कनाट-प्लेस पहुँचकर तांगेवाले को भी निराशा हुई । इनाम देने के बजाय रानी उससे कह रही थी—भाई, हमारे पास तो साढ़े ग्यारह आने हैं, ले ले । और क्या जान लेगा !

तांगेवाले को शायद रानी का यह वाक्य सुनकर ठेस-सी लगी। ऐकदम बोल उठा—तू यह भी रख ले, रानी !

उसका यह कहना था कि वन्ती, बींरा और शीला खटाक से हँस उठीं, जैसे किसी ने तीन फव्वारे खोल दिये हों। रानी पहले तो एक क्षण के लिए भौचक-सी रह गई । फिर जब बात समझ में आई, तो इतनी हँसी कि खड़ी न रह सकी और वहीं बैठकर पेट दबाती उई-उई करने लगी।

तांगेवाले ने अपने-आप से कहा—कैसी पागल हैं !—और कदम-कदक घोड़े को आगे बढ़ाया।

जब ज़रा दम-में-दम आया, तो अपनी आंखों को पोंछते हुए रानी ने कहा—मुए को मेरा नाम कैसे पता चल गया ?

वन्ती ने जवाब दिया—भई, तुम्हें कौन नहीं जानता !

और इसपर हँसी का दूसरा दौर पड़नेवाला ही था कि उसी

तांगेवाले की आवाज फिर आई—क्यों जी, कुतुब की सैर करवा लाऊँ ?—तांगेवाला कुछ दूर आगे जाकर फिर मुड़ आया था।

—कुतुब की सैर करा अपनी मां-बहन को !—रानी ने विशेष घरेलू औरत के स्वर में कहा और अपनी सहेलियों से बोली—चलो री, यह मुआ तो कुत्ते की तरह पीछे ही पड़ गया !

और वह ओडियन सिनेमा की ओर चल पड़ीं।

रानी बोली—यही है केनाडपलेट।

वीरा बोली—केनाडपलेट नहीं, करनाटपलेस।

वन्ती ने कहा—क्या बकती हो, नाम है केनासपलेट।

शीला ने कहा—नाम कुछ भी हो, जगह तो यही है न।

रानी बोली—पूछ क्यों नही लेतीं किसी से ?

—जाओ न, अपने उस तांगेवाले से....

तांगेवाले का नाम सुनते ही रानी एक मुस्कान को दबाते हुए बोली—मुआ नाम तक जान गया।

वह ओडियन के सामने रुककर दूर से तस्वीरें देखती रहीं। फिर झिझकते-झिझकते नजदीक आयीं और धीरे से अन्दर सिनेमा के पोर्च में दाखिल हो गयीं। फिरती-फिरती पुरुषों की पेशाबगाह पर जा रुकीं। कुछ क्षण सोचती रहीं कि अन्दर क्या होगा, और फिर रानी ने दरवाजा अन्दर की ओर ढकेला और 'उई मां' कह कर भाग खड़ी हुई। सब-की-सब भागती फिसलती बाहर आ गयीं और रानी से पूछने लगीं कि क्या हुआ ?

पर रानी हँसने लगी। और जब उन्होंने बहुत तंग किया, तो बोली—चुप रहो, बेशर्मो।

शीला ने बात बदलने के लिए कहा—यहीं कहीं हनुमान जी का मंदिर है. कहो तो....

—राख डालो हनूमान जी के मंदिर पर ! सैर पर निकली

हो कि पूजा को ? वहां भी कोई मोटा-तगड़ा पुजारी बैठा घूर रहा होगा।

और फिर सब हँसने लगीं।

और इसी तरह हँसते-हँसाते, फिरते-फिराते उन्होंने शाम कर दी। हँसते-हँसते उनके गले बैठ गये और वैसे भी उन्होंने बहुत कुछ अल्लम-गल्लम खा लिया था, गोल-गप्पे, आलू की टिकियां, चाट के पत्ते, चना जोर गरम, याने कनाट लेस के बड़े होटलों को छोड़कर बाहर जो चीजें मिलती हैं, वह सब उन्होंने थोड़ी-थोड़ी चख ली थीं। कनाट प्लेस के बरामदों में कितने ही चक्कर लगाये कितनी ही दूकानों के सामने हक्की-बक्की खड़ी रहीं, कितने ही लोगों को अपनी हँसी के कारण भ्रम में डाला। और अब उनकी टांगों में हल्का-हल्का दर्द होने लगा था। और उनके दिमागों की कोई जंजीर घर की ओर खींचने लगी थी।

—चलो न, वहां कैसी हरी-हरी घास है, थोड़ी देर बैठकर आराम कर लें।

पर इसके जवाब में किसी ने भी हां या ना न की।

वीरा ने धीमे स्वर से कहा—घर नहीं चलोगी ?

घर का नाम जैसे सबको तलवों में रोड़े के समान गड़ गया।

चारों के चेहरे एकदम उतर गये।

—घर जाकर क्या करोगी ? रानी ने हिम्मत से काम लेते हुऐ कहा।

लेकिन उसके इस निर्बल प्रतिवाद का यथार्थ में कड़वे बादलों पर कोई प्रभाव न पड़ा, जो शायद आसमान से छँटकर अब उसके दिमागों पर छा रहे थे।

—घर में है क्या ?—रानी ने फिर कहा, मानो अपने-आपको समझा रही हो।

—खाक है !—शीला ने जबाब दिया, मानो कह रही हो, जानते-बूझते हुए भी पूछती हो !

और यह चारों सहेलियां हरी-हरी घास पर बैठने के बजाय घर की ओर लौट पड़ीं।

—तांगा कर लो।—रानी ने कहा।

पर किसी को हँसी न आई।

—बन्ती और वीरा को तो मानों सांप सूँघ गया है।—शीला ने कहा।

—सोच रही हूँ, रात को सब्जी क्या बनाऊंगी।—बन्ती ने जवाब दिया।

इसका मजाक उड़ाने के बजाय रानी बोली—मुझसे सुबह की दाल ले लेना।

और वह रास्ता पूछती-पाछती, घर की छोटी-मोटी उलझनों को सुलझाती, घरेलू समस्याओं पर बहस करती, पड़ोसिनों की निन्दा-स्तुति करती, पाइयों-आनों का हिसाब करती तेज-तेज कदमों से घर की ओर चलने लगीं।

जब अपनी गली के पास घर पहुँची तो अँधेरा काफी गहरा हो चुका था।

हंसराज कालेज,
नई दिल्ली।

'नीड़ के मिथुन' (कहानी)

लेखक—अवध प्रसाद वाजपेयी

'इस करुणा कलित हृदय में
अब विफल रागिनी बजती'
.... क्यों हाहाकार.... ?

परीक्षा की कापियाँ देखते देखते रामानुज यहीं रुक गया। अभ्यस्तभाव से उसने अपने हाथ की घड़ी की ओर देखा—अपरान्ह के बाद कब सन्ध्या आई....., वह दत्तचित्त था, ध्यान विचलित हुआ.........

राजधानी की इस भिनभिनाती गली के अन्धकारमय घर की खिड़की को पार करके नजर काफी दूर नहीं जाती। फिर भी मकानों की छतों को फाँदती हुई बादलों की एक परत आसमान में दिखाई दे रही थी।

रामानुज उसकी ओर देखता रहा।

जरा देर पहले एक लहदर पानी बरस चुका था। पृथ्वी से सोंधी सोंधी गन्ध निकल रही थी।............काजल से अंजित बादलों की हँसी मानो अँगड़ाई ले रही थी। बहुत दिनों के बाद आज वसुन्धरा अच्छी लगी।

—अच्छी लगी स्वयं अपने को।

याद आया....इतनी ट्रेजडी और इतनी मौतों के होने पर भी आकाश की नीलिमा कोई छीन न लेगा; फूलों की हँसी कोई चुरा न लेगा।............

परन्तु रामानुज को अभी पाँच सौ कापियाँ देखनी होंगी। यद्यपि उसे पचीस दिन मिलते हैं, तथापि उसे और भी तो कार्य करने हैं। स्कूल है····परिवार है.... .. ट्यूशन है ....

गिनी कौड़ियाँ गिने रास्तों पर जाने के लिए अपने रास्ते पहले ही से बना रखती है। मौत है समझदार की। केवल उन्नीस कापियाँ जाँच कर बीसवीं पर रामानुज रुक गया:—

'इस करुणा कलित हृदय में
....

'प्रसाद' के 'आँसू' की विशद व्याख्या करता हुआ छात्र अपनी भाव धारा को फेनायमान कर रहा है। बी० ए० क्लास का छात्र—थोड़ी उमर। किन्तु सौन्दर्य की अनुभूति बड़ी तीक्ष्ण.... बड़ा संवेदनाशील मन ......, रामानुज को बहुत वेदना हुई—छात्र, बहुत ही दुःखी होगा। जो व्यक्ति जितना ही अधिक संवेदनाशील होता है, उतना ही अधिक उसे वेदना होती है। आज की पृथिवी पर जीवित रहने के लिए, सफल होने के लिए चाहिए बलिष्ठ आत्मविश्वास।

बनाना होगा—शठ, धूर्त्त, निर्मम, नृशंस, पापिष्ठ चण्डाल। छीन लेना होगा अपनी प्राण प्रतिष्ठा का अधिकार; हड़प लेना होगा दूसरों की सम्पत्ति; तुम्हें अपनी मानमर्यादा की भित्ति की रचना करनी होगी दूसरों के वक्षस्थल की नींव पर।

छात्र ने वेदना का विलास प्रस्तुत किया है। अस्तु, रामानुज ने उसे नम्बर तो कम दिये, किन्तु सहानुभूति उसने चौगुनी प्रकट की।

घड़ी की सुई की तरह रात कब किस तरह घूम कर आई; उसने ध्यान न दिया। कमरे के चारों ओर रामानुज ने आँखें फैलाकर देखा—मामूली चीजें, कागज और किताबों से भरी अलमारी, खिड़कियों के पर्दे मैले हो गये हैं। दरिद्रता की चारों

और छाप लग गई है। एकाएक रामानुज को सारी पृथिवी धूसर, मलिन विवर्ण दिखाई देने लगी। आशा नहीं प्रकाश नहीं, प्राण नहीं। विडम्बित जीवन अन्धकार में साँप की तरह सनसनाने लगा। मनुष्यों के आँसुओं से पृथ्वी की मिट्टी कर्दमाक्त हो गई है। रक्त की लालिमा से आकाश ताम्रवर्ण का हो गया है। नहीं, नहीं, पृथ्वी रक्त से लिप्त है।

पास के कमरे से यन्त्रण का दबा रोदन चुपके-चुपके जाग उठा है। रामानुज की माँ बुखार से पीड़ित हैं—राजरोग""रा"" ज""य""क्ष्मा; बीच-बीच में सीने के बायीं ओर साँस के साथ व्यथा उभड़ने लगती है।""""फिर खाँसी खून।

आज कल ऐसे इन्जेक्शन निकले हैं—थोड़ी ही देर में रोगी को आराम महसूस होने लगती है, और वह धीरे-धीरे काफी तन्दुरुस्त हो जाता है। परन्तु काफी पैसे लगते हैं। गृहस्थी की कीमती चीजें गहने आदि बेच कर दवा की गई, किन्तु कुछ लाभ न हुआ। अब मृत्यु के हाथों छोड़ देना पड़ा।

रामानुज की आँखों के सामने उसकी माँ को—जिस माँ को वह इतना प्यार करता, जघन्य मृत्यु के कीट कुरेद-कुरेद कर खा रहे हैं। माँ का प्यारा सुन्दर शरीर काला क्षीण जर्जर हो गया? वह इतना लाचार! कुछ नहीं कर पा रहा है वह! वह तिलमिलाता और हाथ मलमल कर रह जाता।—उसे बहुत ही थकान महसूस होने लगी।

यन्त्रवत् कार्य ने उसके शरीर को शिथिल कर दिया। अब एक कापी और देखने की उसकी हिम्मत छूट गई। समीप के कमरे से पीड़ित का स्वर और तीव्र हो गया। लालटेन बुझाकर रामानुज उठ खड़ा हुआ। चुपके-चुपके वह मां के कमरे की ओर बढ़ा, क्योंकि मां उससे अपनी वेदना छिपाती थी, परन्तु असह्य वेदना का छिपाना सामर्थ्य से बाहर हो गया। मां का शरीर—

जीर्ण, अस्थिपंजर, पड़ा कराह रहा है। उसकी छोटी बहन प्रभावती हाथ से सिर सहला रही है।

—रामू, तू अभी जगा हुआ है ?

माँ का स्नेह-स्वर रामानुज के कान तक न पहुँच सका।

—एक बज गया—भैया अब सो जाओ। प्रभावती के स्वर में पर्याप्त समवेदना थी। काठ की कुर्सी पर बैठकर रामानुज अपने को बहुत ही असहाय समझने लगा। परिवार के सभी लोग उस पर करुणा कर रहे हैं। वह इस पृथ्वी का इतना निरीह प्राणी है ! माँ की वह चिकित्सा नहीं कर पा रहा है। फिर भी माँ उसे इतना प्यार करती है, धनाभाव के कारण वह प्रभावती को अच्छे कालिज में भर्त्ती न करा सका, पैसों की कमी से अच्छे विवाह की संभावना भी नहीं—तब भी वह अपने भाई को इतना प्यार करती है।

यह सब बातें सोच कर रामानुज को अपने आपसे घृणा होने लगी। इन लोगों की करुणा और स्नेह का वह पात्र नहीं; नितांत अयोग्य है। जीवन में उसने किया ही क्या ? न देश के काम आया, न समाज के काम आया; न बड़ा आदमी बन सका; न किसी को सुखी कर सका; पाँच साल से नौकरी करता हुआ वह हजार पाँच सौ रुपये भी एकत्र न कर सका। चार-पांच हजार रुपये होने से एक औसत दर्जे के लड़के के साथ प्रभावती की शादी हो सकती है।

परित्यक्त प्रेमी की तरह रामानुज अपने को मनहूस समझने लगा। विचारों के झंझावात ने उसकी अन्तरात्मा को झकझोरना शुरू किया। समाज में मध्यवित्त वर्ग के प्राणी पर बे भाव की पड़ती हैं। उसे जीने का अधिकार नहीं ! वह अपनी मां की सन्तान नहीं। मजदूर हड़ताल करके, अपनी रोटी के लिए कल कारखाने बन्द करके कयामत कर सकते हैं।

किसानों की झोपड़ी का सहारा लेकर दुनिया के बड़े बड़े वाद इन्क़लाब का डंका पीट सकते हैं, भूचाल पैदा कर सकते हैं ।

परन्तु दुनिया को ज्ञान विज्ञान की शिक्षा देने वाला शिक्षक समाज का कालकूट पीकर घुल-घुल कर मरे; किसी के मुख से उफ़ तक न निकले ! अरे, स्वार्थी, मदान्ध पाषाणी जगत् !……

एक कुत्ता भी ऐसी नीरवता से तो नहीं मरता !....

रामानुज की बहिरिन्द्रयाँ शिथिल होते हुए भी, अन्तरिन्द्रियों के विराट विप्लव के आन्दोलन से उत्तेजित हो जातीं । उसकी विधवा माँ की साँसें प्रभावती का विवाह देखने के लिए अटकी हुई हैं ।

कम से कम चार हजार रुपयों से बहिन की शादी हो सकती है । हाय ! रुपया हा--य····रुपया !

बहिन की शादी करनी है । मां सोच-सोचकर भुगत रही है । मैं मां को इतनी हतभागी सन्तान !

रुपया चाहिए····रुपया !····

मां कराह उठी ।

रामानुज के हाथ-पैर ढीले पड़ गए ।

अपने कमरे में आकर उसने दीप जलाया और फिर कापियां देखने लगा । चारों ओर श्मशान की तरह नीरवता छाई हुई है । शरीर को रोमाञ्चित करनेवाली रहस्यमयी विभीषिका अब उसकी अन्तरात्मा को दबोचने लगी और उसकी कांपती हुई पतली उँगलियाँ कापियों के पन्ने उलटने लगीं ।

कन्धे पर किसी का हल्का स्पर्श पाकर रामानुज चौंक पड़ा ।

—अभी जग रहे हो ?

रामानुज ने आंखें घुमा लीं । उसकी 'जीवन संगिनी' उसपर

करुणा कर रही है। किन्तु वह किसी दिन उसे सुखी न कर सका। ग्लानि और क्षोभ से उसका हृदय फटने लगा।

परिवार के अभावों में खिलनेवाला वह कोमल कुसुम कितना मनोहर है—पर मेरी नियति के झंझावात ने इसके सुकुमार कलेजे को कांटों से छेद डाला है।

रामानुज से उसके अंग प्रत्यंग को देखने का साहस न हुआ। वह नीची निगाह किये बैठा रहा।

'क्या खाना खाने की आज भी इच्छा नहीं है?' पत्नी ने सुलभ स्वर को जरा और मध्यम करके कहा।

—भूख जैसे लगती ही नहीं।—

रामानुज ने अपनी तन्द्रिल आंखें ऊपर उठाकर कहा—'कुछ खा लेने के लिए खाना खाऊँ, यह आखिर कब तक खाता रहूँगा।' ....मैंने तो अभी खाया है; तुम लोग जाकर खाओ ना....।.....

'चार पांच हजार रुपये चाहिए; अकेली बहिन उसकी शादी अच्छी होनी चाहिए।'

—तो तुम रात दिन यही सोचा करते हो?

—क्या दुनियां में और कोई नहीं सोचता! क्या सब पशु हैं; जो आहार के समय आहार कर लेते हैं और विहार के समय विहार कर लेते हैं,....इस तरह भैंसा-गाड़ी लीक लीक चलो जाती होगीं....मुझे तो फूँक फूँक कर पैर रखने में भी कांटों की आशंका बनी रहती है क्या करूँ, मजबूर हूँ....।

रामानुज का स्वर उत्तेजित हो गया।

उद्विग्न पत्नी की आंखें सजल हो गईं।

उसने कांपते हुए हाथ से रामानुज की मेज पर एक लिफाफा रख दिया और अपने कमरे की ओर धीरे से प्रस्थान किया।

× × × ×

रामानुज पत्र पाकर घबड़ा सा गया। उसने बड़ी शीघ्रता से

उसे खोला। स्नेहार्द्र मित्र का आमंत्रण! ···इतनी सहानुभूति····!

उसका हृदय भर आया; भूख से विक्षिप्त को कोई धर्मभीरु एक अधन्ने का गुड़ खिलाकर तृप्त करना चाहता है।

× × × ×

बाबू जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव के सुसज्जित कमरे के नीलाभ प्रकाश में बैठा हुआ रामानुज कुछ सोच रहा था। जगदीश और रामानुज एम०ए० तक साथ-साथ पढ़े। इसके बाद जगदीश एक तगड़ी सिफारिश से सरकार के खाद्य विभाग में एक समुच्च पद पर प्रतिष्ठित हो गया। वह शुरू से ही बड़ा चुस्त और चालाक था। वह अपने छोटे से छोटे काम के लिए एड़ी-चोटी का बल लगा देता था। फिर कलम के धनी भगवान् चित्रगुप्त की सन्तान को पैसे से धनी होने में कितनी देर लगती है।

सरकार का खाद्य विभाग ·······घूस खाते-खाते चार दिन में फूल उठा। काले बाजार में उसने दिन-रात एक कर दिया। देखते ही देखते मोटर, मकान आदि खरीद कर समाज का एक सम्भ्रांत व्यक्ति बन गया। समाचार पत्रों में बाबू जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव का नाम गवर्नमेण्ट हाउस के प्रीति-भोज की शोभा बढ़ाने के हेतु प्रकाशित होता। भगवान देता है तो छप्पर फाड़ कर देता है।

अस्तु, रामानुज और जगदीश के रास्ते जीवन के चौराहे से बदल गये। घूस और काले बाजार को रामानुज घृणित समझता है, तथापि उसकी और जगदीश की प्रगाढ़ मैत्री है कारण·······इसी बीच रामानुज ने चाय का प्याला उठाते हुए कहा —

'तुम्हें और तुम्हारे इस कमरे को देखकर मुझे ईर्षा होती है, जगदीश!' उसकी प्रशंसा बड़े चमत्कार पूर्ण ढंग से की गई।

सहसा उसकी बत्तीसी खिल गई—

'किन्तु तुम्हारे धर्मशास्त्र का कोरा आदर्श मेरे जीवन का मूल मंत्र नहीं है, रामानुज !', आँखें नचाकर जगदीशने जवाब दिया।

'धनी होने की योग्यता रावन में नहीं होती; मुझ में भी नहीं; शायद इसी लिए मुझे ऐसा सुयोग नहीं प्राप्त हुआ।'

'सुयोग सबको प्राप्त होता है ... .साहस चाहिए ... .तुम में वह साहस नहीं। सिगरट का धुआं उड़ाते हुए जगदीश ने कहा।

'मुझ में साहस है और बहुत बड़ा साहस है।'

रामानुज संभल कर बैठ गया—'रुपये की मुझे बहुत जरूरत है, किन्तु........। वह अपने को बहुत छोटा समझने लगा, उसके ओठ सूख गये और आँखें विस्फारित हो गईं।

'मैं जानता हूँ, तुम्हारी माँ मृत्यु शय्या पर है, प्रभावती के विवाह के लिए रुपये चाहिए,........किन्तु तुम्हें देख कर मुझे तरस आता है, रामानुज।'

शरबिद्ध बिहंग की तरह रामानुज के प्राण पखेरू छटपटाने लगे।

जगदीश ने देखा, रामानुज के चेहरे का रंग फीका पड़ता जा रहा है —

"अजी चाय पीजिये, ठण्डी हुई जा रही है।" उसने कड़क कर कहा।

रामनुज की हृदय-गति बढ़ती जा रही थी। वह अपने को संसार का सबसे हीन व्यक्ति समझने लगा। उसे महसूस होने लगा कि उसकी देह निष्प्राण सी होती जा रही है। वह अब बैठा नहीं रह सकता गिर पड़ेगा....एकाएक वह उठ पड़ा—

—नहीं, चलूँ मुझे बेचैनी मासूस हो रही है—

'अरे। जिस काम के लिये बुलाया, वह तो हुआ ही नहीं,.... और आप आये और चले....

—दुनिया में बस आना और जाना ही तो होता है।....

—"क्या और इसके अलावा कुछ नहीं होता ?"........

—"होता है....घुलघुल कर....कुत्ते की मौत मरना या कलंक से मुँह काला करके आत्म हत्या करना........

—क्या बेकार की बातें दुहराते हो.... ऐसी अवस्था में ऐसी बातें शोभा नहीं देती....। जगदीश ने उसे बड़े आदर के साथ बैठाया और अपनी जेब से नोटों की चार गड्डियाँ उसके सामने रख दीं।

—रामानुज दुविधा में पड़ गया। एक हजार के नोटों के बंडल को देख कर वह विस्मित हो गया।....विस्मय और आशंका से उसका मन उलझन में पड़ गया।

—'घी छुऊँ तो पाप। गुड़ छुऊँ तो पाप। बहिन की शादी न हो तो पाप।.... हाय! मानव जीवन का इतना पाप पंकिल है।'

रामानुज का कपाल फटा जा रहा था। किन्तु अधरों की झेपती मुस्कराहट से हृदय की सारी वेदना फूट पड़नी चाहती थी।

—अच्छा चलूँ, रामानुज ने बड़ी कृतिज्ञता से विनीत होकर कहा और चलने के लिये उद्यत हुआ।

—'ये रुपये तो लेते जाइए।'

—'नहीं अनुष्ठान के बाद दक्षिणा ली जाती है।'

रामानुज का दुबला-पतला शरीर विद्युत् की तरह कौंध गया। इसी बीच जगदीश के मुख की कान्ति कुछ पीली सी दिखाई लगी पड़ने लगी।............

× × ×

रिमझिम वर्षा से नदियों में यौवन का ज्वार आया है। जीवन

की मुरझाई हरियाली पवन उठी है। सावन का महीना है, बहारें ही बहारें नजर आती हैं।............

सुनहले बया अपनी छोटी छोटी चोंचों से हरे-हरे कुश-कास के तिनके ला-लाकर नोड़ बना रहे हैं। किन्तु बाढ़-पीड़ित बे घर बार हो गये हैं।............गाँव की भोली-लड़कियां अपने भाइयों के हाथों में रंग-बिरंगी राखियां बाँध रही हैं। रामानुज अपने छप्पर के नीचे कंगाल सा बैठा हुआ देख रहा है। आज श्रावणी पुर्णिमा है!............

बया पक्षियों के घोंसले और बहिनों की रँगीली राखियों से रामानुज का पागलपन और बढ़ गया है। वह रात-दिन चिल्लाता है।—

अम्मा मेरी प्रभावती के राखी बाँध देतीं....अम्मा मेरी प्रभावती के राखी बाँध देतीं।........................रामानुज के मुँह में पानी की बूँद भी नहीं जाती।

× × ×

रामानुज की माता को दिवंगत हुए करीब एक महीना हुआ होगा। वह एक दिन अपनी कक्षा में 'जननी निरखत बाल धनुहियाँ' पढ़ा रहा था। कौशिल्या की व्याकुलता वात्सल्य भाव से अनुप्राणित हो रही थी। स्पर्श कातर रामानुज की भावात्मक व्याख्या अन्तरात्मा से निकल निकल कर करुण रस को फेनिल कर रही थी। छठा पीरियड समाप्त होने में करीब करीब तीन मिनट बाकी थे; छात्र तन्मय थे; रामानुज भावविभोर था—सहसा भावपूर्ण पंक्ति आई—

'कबहुँ समुझि बन गमन राम को

रहि चकि चित्र लिखी सी—" पढ़ी....कण्ठ रूँध गया.... आंखें सजल हो गई.... ओठ सूख गये....मस्तक पर पसीने की बूंदे झलकने लगी; एक जोर का चक्कर आया....किन्तु वह सँभल

गया।....दूसरी बार वह धराशायी हो गया। कक्षा के छात्र दौड़ पड़े, भीड़ लग गई। रामानुज के संज्ञा-शून्य,मस्तिष्क से रक्त प्रवाहित होने लगा। इसी अचेतन अवस्था में वह अस्पताल पहुँचाया गया। "इधर यार लोगों ने प्रिन्सिपल और मैनेजर के कान भर दिये कि रामानुज के दौरे की बीमारी है....मिरगी का रोग है....जब तब attac k हो जाता है।'

अन्ततोगत्वा कालिज की मैनेजिंग कमेटी ने उसे कालिज सेवा से मुक्त ही कर दिया।...............नये वर्ष की नई श्रावणी आई, परन्तु अब व्यथित उद्भ्रांत रामानुज का मृयमाण शरीर अपने गांव के छप्पर के नीचे शरबिद्ध पक्षी की तरह पड़ा छटपटा रहा है।....पास ही उसकी जीवन-संगिनी पंखा झलती हुई आँसू बरसा रही है........

अम्मा मेरी प्रभावती के राखी बाँध देतीं........अम्मा....मेरी.. प्र....भा....व....ती..............

कान्यकुब्ज कालेज़
लखनऊ

"....और गाड़ी चलती ही रहेगी"

(श्री हंसकुमार)

घड़ी ग्यारह बजा रही है। आफिस लगे काफी समय बीत गया है। देरी से आये हुए क्लर्क भी सुपरिन्टेन्डेन्ट की डांट सुन कर सिर झुकाये अपनी-अपनी फाइलों से उलझ गये हैं। गोपाल गत दो दिनों से आफिस नहीं आ रहा है। आज भी वह अनुपस्थित है। इस रहस्यपूर्ण अनुपस्थिति के कारण सभी चिन्तित हैं। परिणाम की कल्पना करते ही शरीर में एक सिहरन दौड़ जाती है। सुपरिन्टेन्डेन्ट गुस्से से लाल हुआ, जूतों को जोरों से फर्श पर पटकता, क्लर्कों और चपरासियों के दिलों को कंपाता दहलाता तेजी से कमरे में घूम रहा है। पैर से अधिक दत्तता मुँह दिखला रहा है। मुंह से थूक के छींटे उड़-उड़कर हम लोगों तक पहुँच रहे हैं; किन्तु सभी चुप हैं और सभी सिर झुकाये अपने-अपने काम में लगे हैं। सभी इस बात से पूर्णतः परिचित हैं कि इस समय कुछ कहना आग में घी की आहुति देने के समान होगा। आंखें फाइलों पर टिकी हुई हैं, किन्तु सभी के कान सतर्कतापूर्वक सुपरिन्टेन्डेन्ट का प्रवचन सुनने में लीन हैं। सुपरिन्टेन्डेन्ट बार-बार घड़ी को देखता हुआ अविराम गति से कह रहा है—

'सालों ने आफिस को ससुराल समझ लिया है कि जब दिल में आया आ गए, नहीं तो नहीं आये। सूचना देने की भी क्या आवश्यकता है? समझ क्या लिया है तुम लोगों ने? बड़ों-बड़ों

को ठीक कर चुका हूँ। तुम लोग हो ही किस खेत की मूली ? दूध में गिरी मक्खी के समान निकाल कर न फेंक दिया तो कहना। खटमल-मच्छड़ सा मसल दूंगा⋯हाँ⋯।'

कि चपरासी व्यवधान सा आकर खड़ा हो गया।

'क्या है ?'

सुपरिन्टेन्डेन्ट ने उसे ऐसी निगाहों से देखा, मानों कच्चा ही चबा लेगा।

'बड़े साहेब ने आप को याद किया है।'

सुपरिन्टेन्डेन्ट के रौद्र रूप से भयभीत हो चपरासी इतना ही कहकर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये वहाँ से खिसक गया। सुपरिन्टेन्डेन्ट भी जा चुका है, किन्तु उसकी गालियां-अभी तक हमारे कानों में गूँज रही है। कमरे में मौत का-सा सन्नाटा छाया हुआ है और हम लोग प्रेत-से अपनी कुर्सियों पर बैठे हुए हैं नीरव और निस्पंद! मानो हमने कुछ सुना ही नहीं और यदि सुना भी है तो जान पड़ता है किसी ने हमारी वाक्-शक्ति छीन ली है। मैं कुछ दिनों से ही इस आफिस में काम कर रहा हूँ। मेरे लिये यह वातावरण नया है। इसीलिए मुझपर आश्चर्य छाया हुआ है और मन में विचारों का तीव्र संघर्ष मचा हुआ है। माना कि हम क्लर्क हैं और यह भी माना कि दो दिनों तक बिना किसी सूचना के अनुपस्थित रहना उचित नहीं है, फिर भी इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हमारे साथ पशुओं का-सा व्यवहार किया जाय। सभी के मन में विद्रोह पनप रहा है, फिर भी किसी में इतनी शक्ति नहीं है कि वह इसका विरोध करे, क्योंकि प्रत्येक का अपना परिवार है, मां और बाप हैं, भाई और बहिन हैं। यही कारण है कि हमें नौकरी से इतना अधिक लगाव है कि पशुवत् व्यवहार किये जाने पर भी हम लोग सुपरिन्टेन्डेन्ट और अन्य आफिसरों के तलुवे चाट रहे हैं

और उनकी गलियों को फूलों की बौछार समझ कर प्रसन्न हो रहे हैं। आत्मा मर गई है और निर्जीविता हमारे अंग-अंग में इस तरह घुस गई है कि निकाले नहीं निकलती। इन्हीं बातों को सोचते-सोचते लगा कि मेरा दम घुट जायेगा कि चपरासी का कर्कश स्वर बन्दूक की आवाज सा गूँज उठता है—

'कुमार बाबू! सुपरिन्टेन्डेन्ट साहेब बुला रहे हैं।'

मैं मन ही मन कांप उठता हूँ। सभी साथी लोग मेरी ओर दया-भाव से देख रहे हैं, मानों मैं मौत के मुंह में जा रहा हूँ। मुँह पर हवाइयां उड़ रही हैं, पैर कांप रहे हैं, कंठ सूख रहा है, सारा शरीर पसीने से सराबोर हो रहा है और मैं यह सोचते हुए कि घोड़ा पाप करता है तो तांगे में जुतता है और मनुष्य पाप करता है तो क्लर्क बनता है, एक-एक कदम सुपरिन्टेन्डेन्ट के कमरे की ओर बढ़ा रहा हुँ, बलि के बकरे की तरह!

सुपरिन्टेन्डेन्ट का चेहरा अभी भी लाल है, थूक के छींटे-अभी मूछ के बालों से उलझे हुये चमक रहे हैं। आंखों से आवश्यकता से अधिक गम्भीरता झलक रही है। भय की सिहरन सारे शरीर में दौड़ जाती है।

'कुमार! गोपाल तुम्हारा मित्र है न? तुम उसे कब से जानते हो?'

'जी, हम एक ही गांव के रहनेवाले हैं, पड़ोस में ही रहा करते थे। प्राय: बचपन से ही हम एक दूसरे से परिचित हैं।'

जितनी कोमलता और मिठान के साथ मैं उत्तर दे सकता था दिया। घबराहट अभी शेष थी। पसीने की बूँदें मुंह पर चमक रही थीं।

'हूँ।'

और तभी मेरी दृष्टि टेबिल पर पड़े कागज पर पड़ती है। इन अक्षरों से मैं भली-भांति परिचित हूँ। उत्सुकता जाग उठती

है और मैं उस कागज को उठा लेता हूँ। आश्चर्य से मैं देखता ही रह जाता हूँ। सहसा विश्वास नहीं हुआ। वह गोपाल का त्यागपत्र था। केवल इतना ही लिखा था—"मैं कुछ अनिवार्य एवं आवश्यक कारणों से कार्यालय की सेवा करने में असमर्थ हूँ। कृपया त्यागपत्र स्वीकार कर अनुगृहीत करें।'

समस्या और भी रहस्यपूर्ण हो उठी। सुपरिन्टेन्डेन्ट का गम्भीर स्वर कानों में गूँज रहा है—

'देखो कुमार, गोपाल भावुक है। लगता है, उसके साथ ऐसी कोई घटना घट चुकी है, जिससे उसके कोमल भावों को चोट पहुँची है। तुम उसे बचपन से जानते-पहिचानते हो। तुम उसे समझाओ, शायद समझ जाये। अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। त्यागपत्र वापिस किया जा सकता है। क्षणिक भावुकता में किया गया कोई भी काम वर्तमान और भविष्य दोनों के लिए दुःखदायी हो सकता है। उसे मना लो, राजी कर लो। अब तुम जा सकते हो और हाँ, यह सरकारी काम ही है, अतः तुम घर जाना चाहो तो जा सकते हो।'

पत्थर को कठोर छाती विदीर्णकर जल का मधुर स्रोत-बह निकला।

मैं गोपाल को जानता हूँ और उसकी भावुकता से भी अपरिचित नहीं हूँ। बचपन की एक घटना अभी भी मुझे याद है। जब परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने के कारण गोपाल गांव की नदी में कूद पड़ा था। अच्छा हुआ कि मल्लाहों की नजर उसपर पड़ गई और वह बच गया, नहीं तो मृत्यु निश्चित थी।

मृत्यु!

और एक विचार बिजली-सा मन में कौंध जाता है। सारी विचार शक्ति जवाब देती-सी जान पड़ती है और मैं लम्बे-लम्बे डग मारता हुआ गोपाल के घर की ओर भागा जा रहा हूँ।

लोग मुझे आश्चर्य से देख रहे हैं, कुछ हंस भी रहे हैं, किन्तु मुझे इसकी परवाह नहीं है।

सुपरिन्टेन्डेन्ट का कहना सत्य था। समस्या गम्भीर है।

'गोपाल।'

किन्तु गोपाल चुप है।

"गोपाल।'

लगता है गोपाल नहीं बोलेगा। वह तो प्रस्तर-प्रतिमा सा निश्चेष्ट बना बैठा है। सोचता हूँ, भाभी को ही पुकारना पड़ेगा।

'भाभी, ओ भाभी, कहां हो तुम ?'

अरे, यह क्या ? गोपाल मछली-सा तड़प उठा और मैं देखता हूँ कि हमेशा हँसने-हँसाने वाला गोपाल आंखों में सावन की घटा लिए मेरी ओर देख रहा है, मानों शून्य में ताक रहा हो, चित्र देख रहा हो, बिना किसी भाव के।

'क्या बात है गोपाल ?'

मेरा स्वर कांप उठता है और गोपाल बिना कुछ कहे एक पत्र मेरे हाथ में थमा देता है। पत्र भाभी का था—

गोपाल।

तुम्हारा सम्पूर्ण जीवन आफिस और आफिस की फाइलों तक ही सीमित है। तुम उन फाइलों में डूबकर-उलझ कर सुखी रह सकते हो, मैं कदापि नहीं। तुम्हारे पास इतना समय नहीं है कि तुम मेरे साथ घूम-फिर सको, दो-चार मीठी बातें कर सको और न तुम इतने धनवान् ही हो कि मुझे कुछ अच्छे कपड़े पहिना सको। ये बातें मेरे लिए स्वप्न हैं। मेरा सारा जीवन ऐसे ही बीत जायगा। यह कल्पना करते ही मैं भय से कांप उठती हूँ। मन में अजीब-अजीब बातें उदित और अस्त होने लगती हैं। मन कहता है, तुम आदमी नहीं पशु हो और मैं पशु को प्यार नहीं

दे सकती। मुझे एक अच्छा साथी मिल गया है। राकेश को जानते हो न? वह न तो तुम सा नीरस है और न उसे कमाने की आवश्यकता ही है। अमीर बाप का इकलौता पुत्र है, उसे किस चीज़ की कमी? मैं उसे अपना सर्वस्व सौंप रही हूँ। और तुम्हें हमेशा-हमेशा के लिए छोड़ रही हूँ। मुझे विश्वास है कि तुम मेरा पीछा नहीं करोगे।

तुम्हारी कुछ नहीं
शालिनी

पत्र पढ़ कर दंग रह जाना पड़ता है। सोचता हूँ, न जाने इतना विद्रोह शालिनी अपने अन्तर में कैसे छिपा पाई? गोपाल दो दिनों से रो रहा है; आंखें लाल हो गई हैं। मानों हृदय में जल रही चिता की लपटें आखों की राह बाहर झांक रही हैं। गोपाल अभी भी रो रहा है। फिर भी वह पशु है और पशु होकर रो रहा है। पत्नी की जरा सी बीमारी पर दिन-रात जागने वाला गोपाल, पत्नी को खुश रखने के लिए दिन भर आफिस के नीरस काम की थकावट के बाद भी शाम को घूमने की अपेक्षा ट्यूशन करने वाला गोपाल पशु है। केवल इस लिए कि वह अपनी पत्नी के साथ शाम को बाजार में घूम नहीं पाता, सिनेमा या पार्क नहीं जा पाता और उसे कीमती साड़ियाँ खरीद कर नहीं पहिना पाता। मैं देख रहा हूँ, गोपाल रो रहा है और शायद रोता रहेगा। किन्तु समझ में नहीं आता कि उसे कैसे सान्त्वना दूं, समझाऊँ। सिर झुकाये घर लौट आया हूं।

रात गहरी होती जा रही है। रात का घना अंधकार शहर पर दानव-सा फैलता जा रहा है। मैं बिस्तर पर पड़ा गोपाल के विषय में सोच रहा हूं। गोपाल दूसरे दिन मुझे नहीं मिल सका। शायद वह शालिनी को खोज रहा था और मौत उसे खोज रही थी। गोपाल शालिनी को तो नहीं पा सका, किन्तु मौत

गोपाल को पा चुकी थी। तीसरे दिन उसकी लाश तालाब में तैरती पाई गई। उसकी अंतिम क्रिया कर अभी अभी लौटा हूं। मुझ पर गोपाल छा-सा गया है। गोपाल हमेशा के लिये शालिनी और गोपाल की दुनिया रसमय एवं मधुर बना कर सदा के लिए चला गया। गाँव में बूढ़े माँ-बाप हैं, जो कब्र में पैर लट-काये बैठे हैं, केवल एक ही धक्के की आवश्यकता है और बस मुक्ति-चिरमुक्ति ! माँ बाप के अलावा एक छोटा भाई है, जिसके दूध के दांत भी नहीं गिरे हैं और है एक जवान विवाह योग्य बहिन। मन में सोचने लगा।

तो क्या उसका विवाह हो सकेगा और उसका भाई आगे पढ़ लिख कर मनुष्य बन सकेगा या वैसे ही भूख-प्यास से तड़प तड़प कर पूरा परिवार ही नष्ट हो जायगा ? और''''और''''यदि माँ-बाप की छाया दोनों पर से उठ जाय तो फिर क्या हो ? जवान बहिन'''' आज''''''''वेश्या ! मस्तिष्क की नसें झनझना उठती हैं और मस्तिष्क सोचने से इंकार कर देता है। करवट बदलता हूं और मन को दूसरी ओर मोड़ना चाहता हूं तो शालिनी की आकृति उभर आती है। शालिनी भाग गई एक अवारा लड़के के साथ, केवल इसलिये कि वह अमीर है, लाखों का एक मात्र अधिकारी है। क्यों न भागेगी ? आखिर प्रेम भी तो कोई चीज है न ? फिर ऋषि-मुनियों ने तो उसे स्वर्गीय कहा है।

प्रेम ! स्वर्गीय प्रेम !

इस थोथी कल्पना पर मन ही मन हस उठता हूं। अतीत अंगड़ाई लेना चाहता है। मैं पुनः करवट बदलता हूँ, चादर से अपने आपको अच्छी तरह ढंक लेता हूँ; फिर भी जिसे मैं भूलना चाह रहा हूँ वही वर्तमान बनकर अतीत के धुंधले पर्दे को फाड़-कर आंखों के सामने साकार हो उठता है। लगता है बिना अतीत को दुहराये शन्ति नहीं मिलेगी। किन्तु यहाँ किसी भी

बात को कल्पना क रंग में रंगकर नहीं कहूँगा क्योंकि ऐसा करने का मोह अब जाता रहा है, फिर इसमें कोई सार भी तो नहीं है।

रेखायें सघन होती जा रही है और एक नारी-आकृति रूप ग्रहण करती जा रही है। मैं इससे अच्छी तरह परिचित हूं। मैं ओठों ही ओठों में गुनगुनाता हूं 'रजनी!' हां यह रजनी ही है।

तो मैं भी इस स्वर्गीय प्रेम के चक्कर में पड़ा था। स्वर्गीय इस लिये कि मैंने रजनी से प्रेम किया था, उस रजनी से जो शहर के प्रसिद्ध सेठ की इकलौती बेटी थी। फिर जैसा कि मैंने सुना है और समझा है, बड़े लोगों का प्रेम स्वर्गीय ही होता है। गरीबों के प्रेम -सी सरलता उसमें नहीं रहती, सभी बातें अजीब रहती हैं और बड़ी रहती हैं। शायद इसलिए वह स्वर्गीय होता है। हाँ तो मैंने भी रजनी से प्रेम किया था या यों कहिये रजनी ने मुझ से प्रेम किया था।

कालेज का स्वच्छन्द वातावरण था और था यौवन का प्रभात-काल! हमेशा मन में रंगीन कल्पनायें अठखेलियां किया करतीं थीं। मैं कल्पनाओं के मोहक महल बनाता और उनमें विचरा करता। रोज मन में नई नई आकांक्षायें अपने सुन्दरतम रूप में मेरे सामने आतीं और मैं ललक उठता। उन्हें प्राप्त करने को प्रतिदिन नई-योजनायें बनाता। असफलता मिलने पर वे ही अतृप्त आकांक्षायें दूने मोहक रूप में मचलती हुई आतीं और मुझे बेकाबू बना कर मचला करतीं। लड़कियों को देखकर हमेशा दिल में टीस-सी उठती और मैं सोचने लगता काश! कोई मुझे भी देखकर मुस्कराये, लजाए और आँखों ही आँखों में निमंत्रण दे। ऐसे ही समय रजनी आंधी सी मेरे दिल में आई। मेरा जीवन ही बदल गया। मन हमेशा मयूर सा नाचा करता था।

साथी लोग मेरे इस सौभाग्य पर कुढ़ते। बहुतों ने बोलना छोड़ दिया और कई मेरे विरुद्ध गंदा प्रचार कर अपने को धन्य मानने लगे। दो वर्षों तक कालेज की पढ़ाई ताक में रख मैं रजनी का खिलौना बना रहा। वह मुझसे खेलती रही। वे चांदनी रातें अभ भी मेरी स्मृति में छाई हुई हैं जो मैंने उसके साथ बिताई थीं। अंगुलिया अभी उसकी नर्म बाहों का स्पर्श अनुभव कर पुलकित हो रही हैं और अभी भी मेरे ओंठ उसकी सांसों की जलन अनुकर रहे हैं।

एक दिन मुझे लगा जैसे वह स्वभाव के विपरीत अधिक गंभीर है। न जाने क्यों गंभीरता का वह आवरण कुछ कृत्रिम लगा। मैं स्पष्टतया देख रहा था कि उस आव्ररण को भेदकर प्रसन्नता की किरणें उसके मुख पर मचल रही थीं। कुछ ही समय बाद उसी ने बतलाया कि उसका विवाह हो रहा है। पूछने पर पता चला कि वह इस सम्बन्ध से बहुत खुश है। खुश क्यों न हो? उसका भावी पति गोकुलदास स्वस्थ है, सुन्दर है और सबसे बड़ी चीज वह अमीर हैं। शहर के इन्ने-गिने रईसों में उनकी गणना होती है। कुछ अधिक उम्र है तो क्या हुआ? पति हैं तो पत्नी को अपेक्षा अधिक प्रौढ़ रहना ही चाहिये। रही बाल पकने की बात। सो यह भी कोई बुरी बात नहीं है। कुछ ही तो बाल पके हैं। फिर आजकल तो जवानी में ही बहुतों के बाल पक जाते हैं। उसी ने कहा था।, वह मुझसे कैसे विवाह कर सकती है जबकि वह मेरे वेतन से अधिक रुपये अपने नौकरों को खुश होकर दे दिया करती है। विवाह····और वह भी एक साधारण व्यक्ति से ···राम····राम क्या खुश होकर कोई कुयें में गिरता है! मेरे लिए वह बहुत चिन्तित भी थी और यदि मैं चाहता तो वह मुझे अपने भावी पति के फर्म में एक बड़ी नौकरी भी दिला सकती थी, उसी ने मुझसे यह कहा था। वह मेरे प्रेम के लिये आभारी

थी कि मैं दो वर्ष तक उसका मनोरंजन करता रहा। मुझे याद है, इसके लिये उसने १००-१०० के पाँच नोट भी मुझे दिये थे और मैंने ले लिये थे। क्योंकि न तो मैं किसी प्रगतिशील उपन्यास का विद्रोही नायक ही था और न किसी सिनेमा का 'हीरो' जो उन रुपयों को उसके मुँह पर फेंककर या पैरों से कुचलकर उससे कहता कि इन रुपयों में मजदूरों और किसानों का खून लगा हुआ है, इनमें तड़पते-मरते छोटे बच्चों की लाश मुझे दिखलाई दे रही है, इनमें सड़े मांस की बदबू है मैं इन्हें नहीं ले सकता। ये तुम्हें ही मुबारक हो। मैंने जीवन में पहली बार और शायद अंतिम बार इतने रुपये एक साथ देखे थे। मैं उनका मूल्य जानता था। उन रुपयों की चकाचौंध में आत्मा का अस्तित्व विलीन सा हो गया था। बिना किसी हिचकिचाहट के वे रुपये मैंने ले लिये। मेरी उदासीनता देखकर वह एक सफल अभिनेत्री की तरह आँसू बहाती रही। अन्त में उसने मुझे बतलाया और समझाया कि प्रेम का अन्त मिलन कदापि नहीं होता। मिलन तो प्रेम का अन्त है। अतः मुझे खुश होना चाहिए। वह बहुत समय तक इसी तरह धन की भाषा में बोलती रही और शब्दों का उपहास करती रही। मैं सब देखता-सुनता रहा। जब वह बोलते-बोलते थक गई और आँखों ने और अधिक बरसने से साफ इंकार कर दिया तो वह एक अच्छे रेशमी रूमाल से अपनी आँख और नाक पोंछते हुए अपने बंगले की ओर चल पड़ी। मैंने एक शान्ति की सांस ली। लम्बे-लम्बे डगों से सड़क नापता हुआ शीघ्र ही मैं अपने घर वापिस आ गया।

माँ मेरी प्रतीक्षा में ही थी। आते ही उसने आंखों में आँसू भरकर कहा—

'बेटा लड़की बड़ी अच्छी है। सुन्दर है, गोरी है, पढ़ी-लिखी

है, खाना पकाना, सीना-बुनना जानती है। और तुझे क्या चाहिए ? तू विवाह कर ले।'

मैंने देखा—

सिर के बाल पक गये हैं। चेहरे पर अगणित झुर्रियाँ उभर आई हैं। आँखों की ज्योति मंद पड़ गई है, आंखों से हमेशा पानी गिरता रहता है और बिना लकड़ी का सहारा लिए वह चल-फिर नहीं सकती।

वैसे तो मैं मां को रोज ही देखता था, किन्तु न जाने क्यों यह सब कुछ मैंने उसी दिन देखा। मैंने अनुभव किया, सचमुच ही मुझे विवाह कर लेना चाहिए। मां ठीक ही कहती है, मुझे और क्या चाहिए। मैं उन आंसुओं में बह गया। मैंने अपनी स्वीकृति दे दी। मेरा विवाह हो गया, किन्तु क्या मैं सुखी हूँ और क्या मां ही प्रसन्न हैं ? शायद नहीं। लाड़-प्यार में पली होने के कारण मेरी पत्नी मुझसे दुगनी है। हमें देखकर कोई भी पति-पत्नी कहने में हिचकिचायेगा। बहिन ने तो मजाक में कहा भी था "भाभी की जांघ और भैया का अंग।" बात मजाक में कही गई थी, किन्तु उसमें वास्तविकता का भी यथेष्ट अंश था। मां भी उससे प्रसन्न नहीं रह सकीं। मां-बाप की इकलौती पुत्री होने के कारण घर का काम-काज करना वह अपना अपमान समझती थी। हमेशा सिर-दर्द से बीमार रहती। सारा काम मां को ही करना पड़ता।

तो रजनी का विवाह धूमधाम से हो गया। सारे शहर में बहुत दिनों तक चर्चा होती रही। रजनी ने मुझे भी निमंत्रित किया। न जाने क्यों मैं नहीं जा सका। किन्तु हां विवाह के उपलक्ष में उसे उपहार भेजना मैं नहीं भूल सका। एक अच्छे रूमाल में उसके सारे प्रेमपत्र बांधकर मैंने अपनी शुभकामनाओं के साथ उन्हें भेज दिया। उन्हें पास रखकर करता भी क्या ?

उपन्यासों के प्रेम-पत्रों की नकल के सिवाय उनमें था ही क्या ? मित्रों ने ऐसा न कर उन्हीं के जरिये बदला लेने का अनुरोध भी किया। मुझे सलाह कुछ पसंद नहीं आ पाई और मैंने अपना कर्तव्य पूर्ण किया।

कुछ ही दिन हुए रजनी मुझे मिली थी। मिलती तो लगभग रोज ही थी, किन्तु कतराकर निकल जाती थी। उस दिन जब उसने मुझे आवाज दी तो मुझे आश्चर्य ही अधिक हुआ। उसने नमस्ते का उत्तर दिये बिना मैं उसे देखता ही रह गया। वह मुझे प्राय: घसीटते हुए पास ही के रेस्टॉरेन्ट में ले गई और तरह-तरह की मीठी-चटपटी अजीब चीजों का आर्डर दिया। उसके नाम तक ठीक से याद नहीं हैं। खाते-खाते मैंने देखा बनारसी साड़ी में रजनी गुड़िया सी लगती थी। ओंठों पर लिपस्टिक का गाढ़ा रंग चढ़ा हुआ था और चेहरे पर आवश्यकता से अधिक स्नो पाउडर पुता हुआ था। ब्लाउज में से आधा वक्षस्थल बाहर झांक रहा था, मानों बाहर निकलने के लिए आतुर हो। पारकर पेन ग्रीवा के नीचे वक्षस्थल के ठीक बीचोबीच लगा हुआ था, जहां अक्सर यौवन की आंधियों के आक्रमण हुआ करते हैं। उसी से दूर हटकर एक छोटा रूमाल ब्लाउज में छिपा था, उसका एक छोर अनायास ही ध्यान आकर्षित कर लेता था। सारा शरीर सोने के कीमती आभूषणों से लदा हुआ था, जिनमें तरह-तरह के कीमती पत्थर आदि जड़े हुये थे। हाथ में रंगीन चूड़ियों के बीचोबीच एक कीमती घड़ी बंधी थी। पैर में ऊँची एड़ी के नये सेंडिल थे। इतना होते हुये भी वह बीमार नजर आ रही थी। एक काली और मलीन छाया उसके चेहरे पर छाई हुई थी। वासना आंखों से झलक रही थी।

मेरे पिछले प्रेम की दुहाई देते हुये उसी ने बहुत कुछ बतलाया। पति अमीर था और इसीलिये वह रजनी से अधिक

अपनी सम्पत्ति को प्यार करता था। सच तो यह है कि वह सम्पत्ति के कारण ही इतनी प्रतिष्ठा कमा सका था। वह उसका मूल्य जानता था और यह भी जानता था कि उसकी बदौलत वह एक से एक सुन्दर रजनी पा सकता है। रजनी से ही पता चला कि विवाह के पूर्व वह इस शुभ काम को भी कर चुका था। अभी तो वह मजबूर है। लाखों रुपये बहाने पर भी वह वह नहीं प्राप्त कर सका था जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है। विवाह तो लोक दिखावे के लिये तथा कमजोरी छुपाने के लिए ही किया गया था। इसीलिए रजनी दुखी थी और प्रणय तथा मातृत्व की भूख उसकी बातों से, आंखों से और अंग-प्रत्यंग से चू रही थी। इसी-लिए शायद वह मेरे सामने दैत्य की भांति बनी बैठी थी। उसने मुझे घर पर निमन्त्रित भी किया और मैं गया भी था। उसके पतिदेव भी मुझसे मिलकर बहुत प्रसन्न दीख पड़े। बार-बार घर आने का अनुरोध भी किया। उन्हें भी तो कुलदीपक की आवश्यकता थी न ?

"क्या सोच रहे हो बेटा ?"

मां ने मुझे उबार लिया।

'कुछ कहना है क्या मां ?'

'कहना क्या है बेटा, तेरी जीजी की चिट्ठी आई है। वे लोग हवा-बदली के लिये यहाँ आ रहे हैं। तेरे जीजा मलेरिया से बीमार थे न। अब अच्छे हो गये हैं। कमजोरी बाकी है। इसी से डाक्टरों ने हवा-बदली की सलाह दी है।'

मलेरिया और हवा-बदली।

मुझे सोचने का रोग लग गया है। मलेरिया से बीमार पड़ने पर भी हवा-बदली की आवश्यकता होती है, यह मैं उसी दिन समझ पाया। मैं स्वतः कई बार बीमार पड़ा हूँ मलेरिया से ही नहीं, टाइफाइड तक से। लेकिन किसी डाक्टर ने कभी भी

मुझे हवा-बदली की सलाह नहीं दी। दे भी कैसे ? हवा-बदली तो एक रोग है—राजसी रोग, जो केवल इने-गिने लोगों को ही हुआ करता है। सोचता हूँ फिर भी यह बात समझ में नहीं आती कि मसूरी, शिमला, नैनीताल तमाम स्थानों को छोड़ कर वे लोग यहाँ क्यों आ रहे हैं। यहाँ की भयंकर गर्मी में स्वास्थ्य सुधरता नहीं बिगड़ता है। अपने हैं शायद इसीलिये।

बीती बातें ऐसे समय याद आती हैं। पिछले वर्ष की बात है। सरकारी काम से जबलपुर जाना पड़ा था। जीजी वहीं थीं। वहीं ठहर गया। एक दिन दोपहर को जब कि मैं लेटा हुआ आँख बन्द किये सोने का असफल प्रयास कर रहा था, जीजीको पड़ोसिन से कहते सुना—

'मेहमानों ने तो नाक में दम कर रखा है बहिन। एक-न-एक आ ही पड़ता है। देखो न, दो दिन से भैया आये हैं, जाने का नाम ही नहीं ले रहे हैं। अरी बहिन, भाई ही हुआ तो क्या करें ? क्या उसके लिये सारा घर ही लुटा दें। ऐसी महँगाई के समय तो मेहमानों का आना अखर जाता है, फिर बाप ही क्यों न हो।'

कहना न होगा, मैं वहाँ और अधिक समय नहीं ठहर सका। शाम को ही एक अल्प-परिचित मित्रसे मुलाकात हो गई। ना करने पर भी उसी के घर ठहरना पड़ा। जीजी के घर की अपेक्षा अधिक आराम में रहा।

कुछ दिनों बाद जीजी का पत्र मां के नाम आया था। मेरी शिकायत की गई थी कि भैया यहां आकर भी हमारे यहाँ नहीं ठहरे। वह हमें अभी से पराया समझने लगा है; अभी तो विवाह हुआ ही नहीं है। मां ने डांटा-फटकारा। मैं क्या बोलता बेशर्म बन हंसता रहा। परसों जीजी यहाँ आ रही हैं। पिछले

वर्ष भी आयी थीं, जिसके लिये १००-१२० रुपये कर्ज में लेना पड़ा था। अभी भी कुछ देना शेष पड़ा है।

जीजी आ रही हैं। उस वर्ष घूमने आई थीं, इस वर्ष हवा-बदली के लिये आ रही हैं, अगले वर्ष भी आयेंगी और उसके बाद भी तब तक आती रहेंगी जब तक मैं मर न जाऊँ।

'कल तनखाह मिल जायेगी बेटा।'

कल पहली तारीख है। इसी लिये मां मुझ से पूछ रही हैं। मानों कह रही है कि कल वेतन मिलने पर ही घर में चूल्हा जल सकेगा और घर में प्रकाश फैल सकेगा। नहीं तो शायद अंधेरे में ही रहना पड़ेगा और बिना खाये-पीये ही सोना पड़ेगा।

पहली तारीख।

पहली तारीख क्लर्कों के जीवन में विशेष स्थान रखती है। जीवन भर पैसों के लिये तरसने वाले क्लर्क इसी एक दिन अपने कुबेर होने की कल्पना करते हैं। घरवालों की सभी इच्छाओं को पूर्ण करना अपना प्राथमिक कर्तव्य समझते हैं और भरसक प्रयत्न भी करते हैं। मित्रों की प्रसन्नता का भी विशेष ध्यान रखा जाता है, फिर चाहे महीने भर फाके ही क्यों न करना पड़े।

डाइरेक्टर साहब को सरकार विदेश भेज रही थी। वहाँ की शासन पद्धति का अध्यन करने, ताकि वहाँ से लौटकर वे हमसे और भी अधिक काम करा सकें। इसके लिए उन्हें पार्टी देना हमारा परम कर्तव्य था। एकाउन्टेन्ट समझदार आदमी था। उसने पहले ही पाँच रुपये काट लिये थे। कैंटिन और पानवाले पंडित का हिसाब साफ कर मेरे पास बचे थे केवल ८० रु० ७ आने। इतनी बड़ी रकम हाथ में आते ही तरह-तरह की मधुर कल्पनायें मस्तिष्क में घर बनाने लगीं। मैं विवाहित हूँ। अपने वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट होने पर भी भाग्य की बिडम्बना देखिये कि मैं एक बच्चे का पिता हूँ। यह भी मध्यम वर्ग के

लोगों की एक मजबूरी है। अपनी पत्नी के पास जाकर ही तो वे अपना दुःख भुला पाते हैं। नहीं तो और कहाँ जाये। ऐसे में सन्तति नियमन........!

वेतन हाथ में आते ही इंदरा का चेहरा आँखों के सामने झूम उठा। सोचा, बेचारी के पास दो ही साड़ियाँ हैं, उन्हें ही रोज पहनना पड़ता है। यही सोचकर एक बड़ी दूकान से अपनी पसंद की ३०) की एक साड़ी लेकर घर पहुँचा। मन ही मन सोचा, आज इंदरा अवश्य ही मुझसे खुश होगी और उन निगाहों से देखेगी जिस निगाह से उसने मुझे प्रथम-मिलन के समय देखा था। किन्तु वह केवल एक स्वप्न था—दिवा स्वप्न! वह मेरी अपनी पसंद, थी उसे भला क्यों पसंद आती। उसे तो ६०--७० रुपयों वाली उस साड़ी की आवश्यकता थी, जो जीजी गत वर्ष पहनकर आई थीं। वह उसके लिए दो कौड़ी की भी नहीं थी। नारी कितनी भी पढ़-लिख जाये वह नारी ही रहती है।

जलते-कुढ़ते घर में घुसा तो पालने में सोया बच्चा एकाएक चीख मारकर रो उठा। मानों वह भी खिलौना न लाने की शिकायत कर रहा हो। नजर उठाई तो मां पर दृष्टि पड़ी। याद आया मां का चश्मा लाना जरूरी था। दो माह पूर्व फूट गया था। तकलीफ बहुत होती है। ठीक से चल-फिर नहीं सकतीं। वैसे ही घर में दिन में ही अँधेरा रहता है। रात का क्या कहना। उस समय इच्छा हुई यदि पृथ्वी फट पड़े तो मैं उसमें समा जाऊँ। किन्तु ये बातें सतयुग की थीं। न धरती फटी न उसमें समाया।

'आफिस से आ गया रे! तनखा मिल गई बेटा?' यह मां का कांपता हुआ स्वर था।

'अरे चुप क्यों है? क्या चश्मा नहीं लाया? तो क्या हुआ? फिर आ जायेगा।'

मन वेदना से प्लावित हो उठा। आंखें बरसना चाहती थीं। चुपचाप सिर झुकाये अपने कमरे में चला गया।

शायद विश्वास न हो। दो दिन बाद मां मर गई! साहेब के साथ मुझे दौरे पर जाना था। गाड़ी सुबह ही छूटती थी। चूँकि पत्नी सुबह उठ नहीं सकती थी, मां को ही उठना पड़ा। सीढ़ियाँ ठीक से न दीख पड़ने के कारण सीढ़ियों पर से पैर फिसल गया और २७--२८ सीढ़ियाँ मिनिटों में पार करते हुए मां नीचे गिर गई। जर्जरित तन आघात सहन कर न सका। लाख कोशिश करने पर भी मां—वातरूप की प्रतिमूर्ति मेरी मा मुझसे रूठकर हमेशा-हमेशा के लिए मुझे छोड़कर चली गई, शान्ति पा गई केवल १५--२० रुपयों के अभाव में। सबके रहते हुए मैं अकेला रह गया।

× × ×

सभी घटनायें बीत चुकी हैं। देखने में स्वस्थ और प्रसन्न दिखता हूँ, पर अंदर ही अन्दर गल रहा हूँ। लगता है शरीर में घुन लग गई है। हृदय में हमेशा एक टीस उठा करती है। मां, गोपाल, शालिनी रजनी के चेहरे बार-बार उभर आते हैं और घाव को खुरच कर व्यथित बना शून्य में समा जाते हैं। पत्नी, पुत्र, भाई बहिन मित्र सभी कोई हैं, जिन्हें मैं अपना कह सकता हूँ। पैसों की भी विशेष तंगी नहीं रहती। रजनी न मांगने पर भी किसी न किसी बहाने काफी रुपये हर माह दे दिया करती है और विश्वास है कि तब तक देती रहेगी जब तक कि उसकी इच्छा पूर्ण न हो जाय। बैंक में भी कुछ रुपया जमा हो गया है। मां की मृत्यु के बाद पत्नी का स्वभाव भी नरम पड़ गया है। फिर भी न जाने क्यों ऐसा लगता है कि इतने बड़े संसार में मैं अकेला हूँ—बिलकुल एकाकी। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं दीख पड़ता जिसे मैं अपना कह सकूँ। सभी पराये हैं तथा स्वार्थ वश अपने बने बैठे हैं। तभी अन्दर से एक

हूक सी निकलती है। मानों मैं चीख चीख कर पूछ रहा हूँ, अरे, कोई है। जिसे मैं अपना कह सकूँ।? उस में चारों ओर से एक सम्मिलित अट्टहास सुनाई देता है। इच्छा होती है कि सन्यासी बन कर निकल जाऊँ। तब एक चित्र आंखों के सामने झूम उठता है। मैं स्पष्ट देखता कि एक नारी प्रकृति जो मेरी पत्नी से बहुत कुछ मिलती जुलती है, अपने पुत्र को साथ में लिए भीख मांग रही है। कपड़े जगह-जगह के फट गये हैं, जिसमें से बाहर निकला हुआ पेट झांक रहा है। लोग हंस रहे हैं, कुछ फब्तयाँ भी कस रहे हैं और वह रो रही है। बीच-बीच में अपने रुखे सूखे को नोचती जाती है। छोटा बच्चा उसके स्तनों को चूसना चाहता है, किन्तु वहाँ दूध तो क्या रक्त तक का एक बूंद भी उसे नहीं मिलता दोनों का रुदन मुझे मजबूर कर देता है। मैं उन आँसुओं के प्रवाह में बह जाता हूँ। कभी-कभी इच्छा होती है कि कहीं भटकती हुई मौत मिल जाये तो उसमें इस तरह चिपक जाऊँ कि लाख प्रयत्न करने पर भी वह मुफत छुटकारा नहीं पा सके और मुझे साथ लेकर ही आगे बढ़े। किन्तु चाहने पर मौत भी नहीं मिलती। मेरी असमर्थता पर आँखे बरसने लगती हैं। मैं जानता हूँ इन्हें पोछने वाला कोई नहीं है। इसलिए या तो मैं स्वयं इन्हें पोछ लेता हूँ या वैसे ही सूख जाते हैं। जीवन की गाड़ी इसी तरह चल रही है और चलती रहेगी।

हंस प्रकाशन
सीता बर्डी,
नागपुर

एक सिनेमा शो

(श्री शंकर पुणतांबेकर)

(१)

आज प्रोफेसर साहब जरा थके हुए घर पर आये। घर का ताला खोला—कोठीनुमा छोटा-सा घर—अन्दर आकर कपड़े उतारे, और पास में पड़ी हुई आराम कुर्सी पर लेट गए। थकावट ने उन्हें अच्छी तरह दबा लिया था। आराम कुर्सी के हत्थों पर पाँव फैलाते ही आँखें झपने ही लगीं। पर क्या वह नींद ही थी सचमुच जो उन्हें अपनी ओर बुला रही थी? आंखें मुँदी हुई थीं—पर उनमें विचारों के ही स्वप्न थे, नींद के विशेष नहीं।

आज उनका थका-थका मन एकाकी आंखें मूँदे अपनी ही आलोचना करता जा रहा था।........

यही होना था, बस? पढ़ते रहना निरंतर, निरंतर यही एक धंधा, निश्चित आय, निश्चित व्यय...यही जीवन...अंत तक निरंतर, बस...यही? नीरस—ऊबा देने वाला—जड़ विराग सा यह—मानो कि विवाहित ही नहीं मैं। वीणा वह पत्नी मेरी.... मेरी पत्नी....!

गांव में घर पर दूर—मन से भी दूर सी एक सम्बन्धी मात्र मेरे लिए। कहां है फिर रस जीवन में? कोई पीड़ा भी जीवन में नहीं। 'प्रेम'—पढ़ा हुआ सा एक शब्द मात्र। कैसा जीवन है यह! किताब ही हूँ मानों मैं एक—केवल। भारी, नीरस, चित्र-

विहीन, जिसमें रोमांस.......वही तो, कोई रोमांस जिसमें नहीं। कोई भी... कोई—

'प्रोफेसर साहब !'

सहसा किसी ने पुकारा, स्पष्ट पर जरा धीमी आवाज से।

प्रोफेसर साहब जग से गए। और न चाहते हुए भी किंचित रुककर, उसी प्रकार लेटे-लेटे उन्होंने अपना स्वर स्थिर कर पूछा—'कौन है ?"

'मैं हूँ श्यामकला, प्रोफेसर सा' ब !'

स्टूडेंट। प्रोफेसर साहब उठे और दरवाजा खोल दिया। श्यामकला अपनी स्वाभाविक चपलता को शिष्टाचार के उचित शैथिल्य से दबाये, किंचित हास्य और लाज का मिश्रण अपने होठों पर लिए, नित्य की तरह ही, खड़ी थी।

अभ्यस्त, अस्फुट सी नमस्ते और उसका वही अभ्यस्त उत्तर, सिर को हिलाकर।

'कहो, कैसे आई तुम ?'

'यूँ ही, प्रोफेसर सा'ब।'—उनके पीछे अन्दर आती हुई वह बोली, 'आप क्या कर रहे थे ? मैंने डिस्टर्ब तो नहीं किया ?...'

'नहीं पड़ा था ईजी चेयर पर। बैठो ना, उस कुर्सी पर ....!' पास की एक कुर्सी की ओर इशारा करते हुए प्रोफेसर साहब ने कहा। शायद पहली बार आज श्यामकला उन्हें कुछ वयस्क सी लग रही थी। इस नीरस, सूने, अकेले-ड्राइंग-रूम में भी वह प्रसन्न ही जान पड़ती थी। प्रोफेसर साहब को कुछ आश्चर्य हुआ और उसका दाहिना इयरिंग शाम की हलकी रोशनी में चमक रहा था....।

श्यामकला एक चतुर विद्यार्थिनी थी, यद्यपि बहुत अध्ययन शील नहीं। वह काफी व्यस्क होगई थी, पिछले वर्ष से, हाँ।

श्यामकला ने दबे कौतूहल से देखा कि उसकी दाहिनी ओर

की दीवार पर लटके एक फोटोग्राफ पर प्रोफेसर साहब की अल-साती दृष्टि कुछ क्षण ठहर, फिर विचारों में अन्यत्र कहीं स्थिर सी हो गई। प्रोफेसर आज थक काफी गए थे। वह उस ड्राइंग रूम से अच्छी तरह परिचित थी। अक्सर यहीं बैठ कर उसने प्रोफेसर साहब से कितनी कितनी देर बहस की है। आज वह इस प्रकार मौन क्यों हैं? दीवारों पर इस एक फोटोग्राफ के अतिरिक्त और कोई सजावट न थी। हाँ, एक तरफ एक गुलदान में रखे हुए कागज के फूलों पर तीन चार रोज की गर्द पड़ी हुई थी अवश्य। एक कोने में बड़ी सी एक आल्मारी। उसमें कुछ मोटी मोटी किताबें और अधिकतर किसी अंग्रेजी मासिक की फाइलें। श्यामकला के पास ही जो एक टेबुल रखी थी, उस पर कुछ पुस्तकें और कापियाँ किंचित अव्यवस्थित रूप में पड़ी थीं। एक दरवाजे के परदे से अन्दर के एक खाली सी सीधे-सादे कमरे का कुछ सामान नजर आता था। प्लेटों और प्यालों की एक झलक-सी। वह उस ओर देख ही रही थी। और किंचित उकता कर कुछ पूछने ही वाली थी प्रोफेसर से, कि वे स्वयं बोल उठे, 'श्याम कला।'

'जी, प्रोफेसर सा'ब....'

"बुरा तो न मानोगी तुम—'

"बुरा कैसा?"

"मैं आज बहुत थक गया हूँ। उठने-बैठने की भी शक्ति जाती रही है। चाय बनाओगी दो प्याले?'

'क्यों नहीं, प्रोफेसर सा'ब!' ऐसा कहकर वह पास के उस कमरे में चली गई जिसमें स्टोव और चाय का सामान रखा हुआ था।

प्रोफेसर साहब आँखें मूँदकर फिर विचार करने लगे—

विवाह...वीणा...नर्स वीणा...बी० ए० की डिग्री लेकर

छुट्टियों में जब वे अपने गाँव पहुँचे, तब उनकी मां ने उन्हें नौकरी कर लेने के बजाय विवाह कर लेने का बड़े जोरों से आग्रह शुरू किया।

'पहले कहीं नौकरी ढूढ़ूँगा मैं, मां।'

'नौकरी करने के लिए क्या घर में रोटी के लाले पड़े हुए हैं, अविनाश ?'

'लेकिन आखिर कहीं नौकरी भी तो करना ही होगी मां।'

'यह मैं भी जानती हूँ; लेकिन अभी विवाह कर लेने में क्या हर्ज है।'

और बस, वीणा से उनका विवाह हो गया था। मूर्ख वीणा, यद्यपि सुन्दर थी वह। विवाह के दो वर्ष पश्चात् एम० ए० हो जाने पर उन्होंने बनारस के एक इंटरमीडियेट कालेज में नौकरी की थी।

पाँच सात साल कालेज में रहकर आजकल वे एक सीनियर प्रोफेसर थे।

मां अब बूढ़ी हो गई है। उनकी सेवा में पत्नी वीणा वहीं गाँव पर रहती है। अभी एक बार भी वह बनारस नहीं आई है। उन्होंने उसे बहुत कम देखा है, उससे बहुत अधिक बातें नहीं की हैं। फिर उसे सदा के लिए वे जान तो गए हैं। वीणा····बस एक गृहणी है····गृहणी···· ।

'लीजिये चाय, प्रोफेसर साहब—'

प्रोफेसर साहब ने आँखें खोलीं, संभल कर बैठे और श्यामकला के हाथों से चाय का प्याला ले लिया।

वे चाय पीने लगे, श्यामकला भी पास की कुर्सी पर बैठकर चाय पीने लगी।

प्रोफेसर साहब का सारा ध्यान श्यामकला की ओर था। अपने कोमल हाथों की उंगलियों में उसने चाय की डिश पकड़ा

रखी थी और मृदु होठों से वह चाय को सिप करके पी रही थी।

उसकी उम्र बीस साल के ऊपर तो होगी ही। उसकी वेष भूषा बिलकुल आधुनिक थी और आकर्षक। उसका चेहरा जरा गोल सा, गाल गुलाबी, ओंठ बारीक और मृदु थे। उसके बालों में से कोई मांहक सुगन्ध निकल रही थी।

भला वीणा भी इतनी सुन्दर होगी अपनी,—कहाँ।....

यह विचार आते ही उन्होंने सामने लगे हुए फोटो की ओर फिर देखा, उदासी से। कुछ क्षण वे एकटक उस फोटो की ओर ही देखते रहे।

इसके बाद उन्होंने श्यामकला की ओर यूँ ही उड़ती हुई दृष्टि से देखा, और फिर भाव बदल कर दूसरी ओर को मुँह कर लिया।

यह आधुनिक लड़की नासमझ नहीं थी। वह मुस्करा दी।

वीणा सुन्दर है या श्यामकला ? यह प्रश्न रह रह कर उनके मन में उठ रहा था।

'जाती हूँ प्रोफेसर साहेब —' टेबल पर से अपनी किताबें उठाते हुए श्यायकला बोली।

'जाती हो—क्यों, पढ़ती नहीं ?

'नहीं, आज आप अधिक थक गए हैं न—'

श्यामकला चली गई।

उस रात यह एक नई समस्या उन्हें मिल गई। वे बराबर यही विचार कर रहे थे कि—वास्तव में वीणा सुन्दर है या श्यामकला ?

(२)

परीक्षा के दिन अब आ ही गए थे।

श्यामकला अविनाश चन्द जी के यहां ही आकर अपना विशेष अध्ययन करती थी।

प्रोफेसर साहेब भी बड़ी मेहनत से उसे पढ़ाते। लेकिन श्यामकला का मन पढ़ने की ओर बहुत कम लगता था, यह उसके पढ़ने के समय के हावभाव से स्पष्ट प्रतीत होता था।

'रात बहुत हो गई, श्यामकला, घर कैसे जा सकोगी? एक दिन रात बहुत हो जाने की वजह से प्रौफेसर साहब उससे बोले।

श्यामकला कुछ न बोली। सिर नीचा किए चुपचाप खड़ी थी वह।

'यहीं सो जाओ न।

और उस रात वह वहीं सो गई। लेकिन रात भर प्रोफेसर की आंखों में नींद न थी। श्यामकला की ओर वे शून्य दृष्टि से देखते ही रहे। उस शाँत और भयानक वातावरण में श्यामकला के श्वासोश्वास का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ रहा था। प्रोफेसर साहब के मन में तरह तरह के विचार करवट ले रहे थे—विकल विचार........

दूसरे दिन प्रोफेसर साहब जब उठे, तो उन्होंने देखा कि दरवाजे के पास एक सफेद रंग का लिफाफा पड़ा हुआ है।

उन्होंने उसे उठा लिया और खोलकर पढ़ने लगे—

'हृदयेश्वर,

× × ×

आप की दासी,
वीणा'

प्रोफेसर साहब ने पत्र पढ़कर बिछौने की रजाई के नीचे रख दिया। श्यामकला अभी सोई हुई थी।

'श्यामकला! श्यामकला!' प्रोफेसर साहब ने उसे उठाने को आवाज दी।

श्यामकला जाग गई।

'क्या है प्रोफेसर साहब?' आँखें मींजती हुई वह बोली।

'मैं आज अपने गाँव जाने वाला हूँ, श्यामकला। मेरी माँ की तबियत खराब है।'

'तबियत खराब है ? तो, आप गांव जाएँगे तो फिर"'मेरा अभ्यास कैसे होगा प्रोफेसर सा'ब ? नहीं, नहीं, आप गाँव न जाइये अभी ....'

श्यामकला मानों रोने रोने को हो गई। उसकी करुण मुद्रा देखकर, प्रोफेसर साहब के मन में जाने क्या आया ; उन्होंने गांव जाने का विचार स्थगित कर दिया।

—प्रोफेसर साहब अपने,मन को संभाल रहे थे जरूर, लेकिन श्यामकला के मोहपाश से बचना अब उनके लिए जरा कठिन ही काम हो गया था।

(३)

प्रोफेसर साहब के जीवन में एक बुखार की सी हालत आ गई थी। आँखों में रंगीनी, मगर एक गर्मी सी थी—ओंठों पर मुस्कान की एक स्थिर कृत्रिमता, जिसमें उपेक्षा का एक हलका सा पुट— चेहरे पर और कपड़ों पर एक बनावटी रौनक यानी कुछ नयापन-सा—'आधुनिकता' के कुछ चिह्न (जैसे कोट के बटन में छोटा सा कोई फूल हो, टाइयों का बहुत चुनाव के साथ रोज बदला जाना) ये सब बातें धीरे धीरे मगर निश्चित रूप से उनमें एक चेंज, एक कायापलट-सी उनके जीवन में, ले आई। स्टाफ उनको देखकर मुस्कराता, स्टूडेंट्स उन्हें देख आपस में बड़े उत्साह से बातें करने लगते ....और श्यामकला कालेज में अत्यधिक गंभीर और अपने साथ की विद्यार्थिनों से अलग अलग रहती। अध्ययन में मानों बहुत व्यस्त। और दूर गांव के घर से कई पत्र आए। वीणा के—माँ के। पर........ वीणा कौन थी ? उसका फोटो दीवार पर अब नहीं ही था। किसी ने उसे अलमारी के पीछे उतारकर रख दिया था।

धूल भी उसकी पोंछी नहीं गई थी। वे वीणा के, माँ के, पत्र बहुधा बिना खोले ही मेज पर कहीं एक तरफ पड़े रहते—जैसे उसमें कुछ विशेष हो ही नहीं सकता था—वे मानो किसी पुराने खेल का इश्तहार मात्र थे। 'एक मनुष्य के जीवन की सामाजिक ट्रैजडी।' 'एक जिंदा तस्वीर नारी के आंसुओं की।' फिल्म पर देखा है उनको निस्सार, कमजोर। ढोंगा पंथी भारत।

मगर एक चीज आ गई थी प्रोफेसर साहब के जीवन में, एक कामुक स्फूर्ति जिसको उनका दिल 'रोमांस' कहता था और उस रोमांस की दृश्य परीप्ति थी वह छोटी-सी मृदु-भाषिणी कोमल-चपल स्टूडेंट-श्यामकला। और उसकी अदृश्य परिधि की सीमायें थीं प्रोफेसर साहब प्रौढ़-वय के अंधेरे आगन में।

श्यामकला कभी कभी हँस पड़ती थी, सहसा—प्रोफेसर साहब के सीधेपन पर। फिर उसे बुरा लगता कि प्रोफेसर साहब आवश्यकता से अधिक उसके निकट अपनी कमजोरी प्रकट करते। यौवन का यह तकाजा नहीं, एक द्वंद्व, एक संघर्ष, प्रेम न सही, वासना में भी—होना ही चाहिए। मगर प्रोफेसर 'मॉडर्न' नहीं हो सकते थे—अब इस मध्य वय में तो नहीं·······

पास तो फर्स्ट डिवीजन में वह अब हो ही जाएगी। फिर प्रोफेसर कहाँ उसके जीवन में रहता था।

और अब वह अक्सर एक ऊब का-सा श्लथ-स्नेह-मिश्रित भाव दिखाकर कितने ही बहाने निकाल लेती, कभी कभी की अपनीअनुपस्थितियों के लिए। और प्रोफेसर अपने आकुल-व्याकुल भावों के समुद्र में डूबते-उतराते।

(४)

दूसरे दिन से इम्तहान शुरू था।

उस दिन श्यामकला ने एक पत्र भिजवा दिया था 'सर में दर्द

के कारण आ न सकूँगी। बहुत खेद—श्यामा।' पुनश्च में था 'आप क्लब के डिनर में शायद जायेंगे ?'

उत्तर में वे इतना जबानी ही कह उठे—हाँ क्लब चला ही जाऊँगा।

प्रोफेसर को दुःख अथवा सहानुभूति से अधिक कुछ, क्रोध हो आया।

श्यामा, श्यामा, अब हद होती जा रही है।

नौकर चला गया। मगर प्रोफेसर साहब का विचार किसी भी प्रोग्राम में लग नहीं रहा था। क्लब के ख्याल से एक खीज-सी उनके मन में उठी—जो कि बढ़ती गई। मेज पर से समाचार पत्र उठाया। क्या खेद है ? आज कितने ही दिन से वहां गए नहीं थे। श्यामकला नहीं है—खैर, अकेले सही।

× × ×

फिर भी प्रोफेसर कुछ निश्चित न कर सके। उकताकर घूमने निकले। लौटते समय यूँ ही एक तांगेवाले को पुकारा—और उससे कह दिया; पिक्चर पैलेस।

खेल शुरू हुए एक घंटा हो चुका था। मगर फिर भी, एक डेढ़ घंटा अच्छा कट जायगा।

टी रूम में बैरा को एक कप लाने को कहा और अनायास एक पत्र जेब से निकालकर पढ़ने लगे। कुछ और काम नहीं था जो। वही—घर से—गाँव से—पत्र आया था। वही वीणा की दिल को जलानेवाली सीधी-सादी लिखावट। एक नजर से सब पत्र पढ़-पढ़ाकर मोड़-माड़ कर फिर जेब में रख लिया।

वह जेब में पहुँचा भी नहीं ठीक तरह से। 'माँ बीमार है।' वह तो हमेशा ही बीमार रहती है, कभी ज्यादा, कभी कम। 'मेरे ख्याल से न सही, तो तुम्हारे ख्याल के लिए!' तुम्हारे

ख्याल ! प्रोफेसर को हँसी आगई । मगर तुरन्त वे गंभीर हो गए । चाय खत्म करके सिनेमा हाल की तरफ चल दिए ।

प्रोफेसर का मानों आज कुछ खो गया था । वह खुद ही खो गए थे ।

अँधेरे में टटोलते हुए जाकर एक खाली कौच में बैठ गए ।

'देखो, कोई आ रहा है रमेश ।'

'नो मोर, डियर !'

दोनों धीरे से एक साथ हँस पड़े । और फिर चुप होगए ।

'श्यामा, लुक हियर' फिर चुपके से रमेश ने कहा । ये दोनों स्वर तो परिचित थे । यह रमेश ही है । स्टूडेंट ।

'श्यामा, इधर तो देखो ।'

'क्या डियर ?'

'यह फिल्म पर तुम्हारे 'प्रोफ' ही तो नहीं हैं [?'

शायद वे किसी हलके से नशे में थे ।

—'श्यामा....'

श्यामा....प्रोफेसर का सिर घूमने लगा । दिल जोरों से धड़कने लगा । 'ओह !' उनके मुँह से बड़ी पीड़ा के साथ इतना ही निकल सका । एकदम उठकर चले जाने को उनकी आत्मा चिल्लाने लगी । लेकिन जैसे किसी ने उनके पाँव फर्श से जकड़ दिए हों । कुछ क्षणों में 'हाफ-टाइम' के साथ ही हाल के सब बल्ब एकदम जल उठे । साथ ही प्रोफेसर तेजी के साथ अपनी सीट से बाहर जाने के लिए उठे ।

और तभी श्यामा और रमेश ने एक साथ मुड़कर पीछे देखा–कातर सम्मान और कुछ स्वाभाविक भय के साथ दोनों के मुख से निकल पड़ा यह अभ्यस्त सम्बोधन :

'हलो, प्रोफेसर सा' ब !'

जब प्रोफेसर अपनी तेजी में द्वार के बाहर निकल गए 'नेवर माइंड' रमेश ने कहा ।

'मैंने अपना डिवीजन खो दिया, रमेश !' श्यामा के मुँह से निकला ।

'नहीं; कोई चिन्ता नहीं, फिर युवती ने दुहराया । और तांगे में बैठा हुआ प्रोफेसर आँखें एक टक खोले हुए एक निश्चित दिशा में कुछ देख रहा था । बीणा का वह लिफाफा—जीवन में प्रथम बार अत्यधिक गंभीर होकर वह इस छोटी सी बात के बारे में सोच रहा था—कि वीणा का लिफाफा टी-रूम में ही रह गया है । मगर सिनेमा-घर की तरफ अब वह वापिस नहीं मुड़ सकता था ।

स्टेशन रोड,
भेलसा (अ० भा०)

·······आपका काम हो जायगा !

(श्री राजमल जैन)

सिफारिश आजकल एक बहुत बड़ा पासपोर्ट है और मेरा खयाल है कि सिर्फ स्वर्ग को छोड़ और सभी जगहों पर वह एक चालू सिक्के का काम देती है। स्वर्ग में वह भले ही खोटा सिक्का हो, मगर दुनियां के किसी भी कोने में वह आपको काम दिला सकती है या कोई भी मामला निपटा सकती है। इसी खयाल से करीब एक वर्ष तक बेकार बैठे रहने और एम० ए०, एल० एल० बी०, पी० एच० डी० आदि लम्बी-चौड़ी उपाधियों का चिट्ठा कभी इस बाक्स नं० को तो कभी उस बाक्स नं० को हफ्ते में कम से कम तीन बार भेजते रहने के बाद भी जब मुझे ४०-३-७५ की क्लर्कशिप या जिसके लिए सिर्फ मिडिल पास होने की जरूरत है वह प्राथमिक स्कूल की ३०-१-४० के वेतन मात्र की मास्टरी भी नहीं मिली तो मैंने नौकरी दिलाने में रामबाण सिफारिश को ही आजमाने का निश्चय किया।

मगर सिफारिश के लिए ऐसे लोगों से सम्बन्ध चाहिए जो मिल या फैक्टरी के मालिक हों या जेल गये हों। मैं तो ठहरा गांव का नौजवान जिसने कभी ट्यूशन करके तो कभी धोबी के यहां (लान्ड्री में) बिल बाबू की तरह काम करके रो-धो कर देश के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विश्वविद्यालय से एम०ए० आदि की उपाधियां प्राप्त कीं, इस आशा से कि ऐसे विश्वविद्यालय में पढ़ने

से हिन्दुस्तान ही क्या विलायत में भी नौकरी मिल सकती है। मगर मेरा निशाना खाली गया।

खैर, अब मैंने दो दिन खराबकर अपने, पिता जी के एवं अपने पिताजीके पिताजी के पहिचानने वालों और रिश्तेदारों को याद किया और उनको लम्बी सूची तैयार कर ली। उनके नामों के सामने मैंने यह भी लिखा कि आज कौन किस ओहदे पर है। क्योंकि मैंने एक किताब में पढ़ा था कि जो कुछ दिक्कत हो, उसे एक कागज पर लिख लेना चाहिए और ऐसा करने पर वह आधी तो यूं ही दूर हो जाती है।

परिचितों एवं रिश्तेदारों की इस लम्बी सूची को जेब में रखे और एक दो बीमा एजेन्टों से यह सलाह लेकर कि किसी से पहिली बार किस तरह से मिलना चाहिए और किस मौके पर अपनी बात कहनी चाहिए, मैं अपने एवं अपने पुरखों के कई परिचितों एवं रिश्तेदारों से मिला। उनमें से बहुत से ऐसे थे जो यदि चाहते (बशर्ते कि उनके यहाँ कोई जगह खाली हो) तो मुझे काम पर रख सकते थे। मगर लगभग सभी ने यही जवाब दिया, "मैं आपकी मदद करने की पूरी कोशिस करूँगा।" मैं समझ गया कि सभ्यता की भाषा में इसका मतलब "नहीं" है।

कई लोगों से लगभग एक हफ्ते तक सबसे भेंट करने के बाद मैं डा० मनोहरलाल नामक एक ऐसे व्यक्ति के यहां पहुँचा जिनके पितामह मेरे पितामह के अभिन्न मित्र एवं ज्योतिषी थे। उनका नाम सामने आते ही अपने पितामह के वैभव की तस्वीर मेरी नजरों के सामने दौड़ गई और मैं अपनी दशा पर रो पड़ा। मुझे खयाल आता है कि मैं शायद इस तरह बड़बड़ाया भी था, "मेरे पितामह, देखो, आप सैकड़ों लोगों को काम देते थे। आज आपके पोते को काम नहीं मिलता।" मैंने सोचा कि मेरे पितामह पुराने जमाने के थे और वे जरूर हर समय मुहूर्त, तिथि,

ग्रहण, दिशाशूल आदि डा० मनोहरलाल के पितामह से पूछा करते होंगे और गांव के इतने बड़े रईस के घर से ही ज्योतिषी के घर का सारा खर्च चला करता रहा होगा। मेरे मन में आशा बँधी कि मनोहरलाल मेरे पितामह के उपकार नहीं भूले होंगे। इस समय वे इन्दौर के एक बहुत बड़े मिल मालिक के जिगरी दोस्त हैं। उनका कहना सेठजी टाल नहीं सकते। मुझे अब खात्री हो गई कि बेकारी की समस्या और लोगों के लिए हो सकती है, मेरे लिए नहीं।

पहिली भेंट में डा० मनोहरलाल मुझे सभ्य एवं सुसंस्कृत व्यक्ति जान पड़े किन्तु पूँजीवादी सभ्यता के असर (मेरा मतलब है रहन-सहन आचार-व्यवहार के तरीकों से) का रंग उनमें भी जमा पाया। खैर डाक्टरों की आदत के अनुसार मेरा केस जल्दी निपटाते हुऐ (उन्होंने मेरी बेकारी के सभी "सिम्पम्स (लक्षण) भी एक डाक्टर की ही तरह पूछे थे) मुझसे कहा कि मैं ठीक पन्द्रह दिन बाद उनसे मिल लूँ क्योंकि इस समय सेठजी असेम्बली के काम में व्यस्त हैं और तब तक उन्हें फुरसत भी हो जायगी। मैंने सोचा डा० साहब ने मेरे बेकारी के फोड़े के आपरेशन की तारीख तय कर दी है- अब क्या फिकर।

आपरेशन की तारीख आ गई और हम सेठजी के कमरे में थे। दोनों दोस्तों की गपशप खतम होने पर डाक्टर साहब मौका देखकर बोले-'आप हैं, चौधरी रमेशचंद्र एम० ए०, एल एल० बी० पी० एच० डी०। इनका खानदान बड़ा रईस था जो अब बिगड़ चुका है। बेकारी से तंग आकर क्लर्क शिप भी करने को तैयार हैं और फिर मिल को तो एक विभूति मिल जायगी।" सेठजी को डाक्टर साहब का आखिरी वाक्य सोलहों आने जंच गया। एक अंगूठा छाप के यहां पी० एच० डी० नौकर। जब तक कोई शिक्षित ऋषि लक्ष्मी पुत्रों को शाप न दे, तब तक तो यह क्रम

चलता ही रहेगा। जो भी हो सेठजी बोले, वाह, ऐसी विभूति को हम क्या खो सकते हैं ? मेरे मिल में हालांकि बाबुओं की छटनी चल रही है मगर मैं अभी डायरेक्टर को फोन कर देता हूँ।" उन्होंने फोन उठाया और डायरेक्टर साहब को जो कि उनके पुत्र ही थे और जो पास ही के कमरे में थे, बोले, कौन डायरेक्टर साहब, मैं सेठ धनपाल बोल रहा हूँ। देखो, भैय्या साहब, हम रमेशचन्द्रजी एच० पी० डी० को आपके पास भेज रहे हैं, आप काम पर लगा देना।" फोन रखने के बाद वे डाक्टर साहब की ओर देखकर एक अजीब तरीके से हंस दिए और मैं उस हंसी का कुछ भी मतलब नहीं समझ सका। मेरी तरफ मुड़-कर वे बोले, "आप मिल में भैया साहब से मिल लीजिए। आपका काम हो जायगा।"

सेठजी की तत्परता देखकर मुझे ऐसा लगा कि सबसे पहिले चन्द्रलोक पहुँचने वाले किसी राकेट में मैंने जगह सुरक्षित करा ली है।

मिल में जब मैं डायरेक्टर साहब के कमरे में पहुँचा तो पहिले इसके कि कुर्सी में बैठूँ, भैया साहब फोन पर जनरल मैनेजर से कह रहे थे, "मैं रमेशचन्द्र पी० एच० डी० को आपके पास भेज रहा हुँ। आपको काम दिला दीजिए।" मुझसे कुछ भी पूछे बिना भैया साहब ने मुझसे कहा, "आप जनरल मैनेजर से मिल लीजिए। आपका काम हो जायगा।"

जनरल मैनेजर साहब के कमरे में मैं जैसे ही गया वैसे ही वे भी बोले, "देखिये मैं मिल के विस्तार की योजना बनाने में व्यस्त हूँ। आप असिस्टेंट मैनेजर से मिल लीजिए। आपका काम हो जायगा।

अब तक मैं यह नहीं सकझ पाया था कि मिल की मशीनको गति मिलाते-मिलाते ये आदमी भी मशीन हो गये हैं किन्तु जब

मैंने असिस्टेंट मैनेजर को भी टेलीफोन के बाद टेलीफोन करते एवं सुनते और उससे फुरसत पाते ही मुझसे बिला किसी रस्मी सवाल जवाबों के यह कहते हुए सुना कि 'आप आफिस सुपरिन्टेन्डेट से मिल लीजिए। आपका काम हो जायगा।' तब मेरी यह धारणा पक्की हो गयी कि आजकल मनुष्य यंत्र को चालित नहीं कर रहा है किन्तु यन्त्र ही मनुष्य की जिन्दगी का नियन्त्रण कर रहे हैं।

आफिस सुपरिन्टेन्डेन्ट श्री बी. एल. राय मुझे जरा अफसराना तबियत के आदमी मालूम पड़े। क्योंकि उन्होंने मुझसे कुछ ऐसे प्रश्न पूछे कि मुझे खात्री हो गई कि नौकरी तो सेठ जी के हुक्म के कारण मिल जायगी किन्तु श्री राय से जरा मुश्किल से पटेगी किन्तु दूसरे ही क्षण मुझे खयाल आया कि मैं तो सिफारिशी उम्मीदवार हूँ और सिफारिशी उम्मीदवार का तो रोब ही और रहता है। फिर मुझे तो सेठ जी 'विभूति' समझते हैं। मुझे डाटने के लिए भी श्री राय को सेठ जी को 'इन्फुलुएंस' में लाना पड़ेगा।

श्री राय से मेरी बात चीत चलरही थी कि इतने ही में उनके सामने फाइलों का एक गट्ठा आ गया। उन्हें देखते ही बोले 'देखिए, जरा बैलेन्स शीट का काम जरूरी में निपटाना है। आप सभी बातें हेडक्लर्क से कह दीजिये। आप का काम हो जायगा।' और उन्होंने एक चपरासी के साथ मुझे हेडक्लर्क के पास भेज दिया।

तुरई सूख जाती है मगर उसका रोब वैसा ही रहता है जैसा कि उसके हरी होने पर रहता है। मगर मेरे सामने बैठे हेडक्लर्क का जिन्दा होते हुए कोई रोब नहीं पड़ रहा था। मुझे तो वे किसी मृतात्मा के जीवित रेखाचित्र ही लगे। उन्होंने मेरे साथ बड़ी सहानुभूति के साथ बातचीत की शायद इसलिए कि गरीबी की दुनिया में वे और मैं हमसफर थे। जो भी हो, अपने बुजुर्ग-

पन की मुझपर छाप छोड़ते हुए, उन्होंने अगले हफ्ते मिलने के लिए कहा।

एक हफ्ते के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा इसी प्रकार मिलने और फिर मिलने के आश्वासनों में डेढ़ महीना बीत गया और मुझे काम नहीं मिला।

आखिर हेडक्लर्क ने मुझ से स्पष्ट ही कह दिया, 'भाई आप यहाँ काम की उम्मीद न रखें। यहाँ हर दिन इसी प्रकार कई उम्मीदवार आते हैं और सब को काम पर रख लेने के टेलीफोन आदेश हुआ करते हैं—सिर्फ अपनी लाज बचाने के लिये, मित्रों का मुलाहिजा रखने के लिए। मगर जिसका सिफारिशी सितारा बहुत चमकीला होता है, उसके लिए टेलीफोन नहीं खड़खड़ाते लिखित आदेश निकलते हैं, जगह नहीं होती है तो नई जगह कायम की जाती है। आखिर, टेलीफोन भी तो मुंह बचाने का अच्छा साधन है ?'

और तब, मेरी समझ में आया कि आपका काम हो जायगा का मतलब क्या था। अफसोस, मेरा निशाना इस बार भी चूक गया था ?

भाषा विभाग,
रामदास सेठ, कानपुर

मेजर श्रीनाथ का वसीयतनामा

(श्री दामोदर सदन)

मेजर श्रीनाथ ने सेना में २५ साल काटे थे, इसलिए उनके अनुशासन का दावा स्वीकार किया जा सकता था। खुले मैदानों में गड़े तम्बू, इधर से उधर सामरिक दृष्टि से हटाई जाने वाली टैंकें, मशीनगनें, बमवर्षक जहाजों का सुसज्जित रखना, नक्शों पर दिखाये गये तीर के चिन्हों ने उन्हें अनुशासन बद्ध बना दिया था, इसी लिए वे अपने बंगले की चहारदीवारी में भी अनुशासन पसन्द करते थे। बंगले के किसी भी कमरे में यदि फूलों के गमले ठीक प्रकार से न रखे गये हों तो वे जामे से बाहर हो जाते। सभी वस्तुओं को वे बातरतीब देखनां पसन्द करते हैं। सौंदर्य की दृष्टि से नहीं अपनी सामरिक दृष्टि के कारण।

युद्ध शांति के हक में रिटायर्ड हो चुका था, इसलिए श्रीनाथ अपने बंगले में शान्तिपूर्वक जिन्दगी बिता रहे थे। युद्धकालीन सेवा ने उनके लिए सुख की सभी सामग्री जुटा दी थी जिससे वे एक सम्भ्रांत नागरिक का जीवन व्यतीत कर सकें–चलने के लिये मोटर रहने के लिये बड़ा बंगला, बैठने के लिए सोफों की व्यवस्था थी। दो जवान लड़के थे और पाँच लाख की पूँजी बैंक में जमाथी इन सब सुख सुविधाओं के बावजूद उन्हें एक सुख नहीं था। वे बहरे थे। लड़ाई के मैदान में एक के बाद एक गिरने वाले गोलों का असर उनके कानों पर हुआ। कोई भी बात उनके कानों के पास मुंह लगाकर ही कही जा सकती थी।

वे आराम कुर्सी पर बैठे-बैठे बीते दिनों की मधुर स्मृतियों का आनन्द उठा रहे थे। इतने में ही उनका बड़ा लड़का रमेश उनके पास आया और जोर से कहने लगा—डेडी मुझे १००) रुपये चाहिए। कश्मीर को फिर से बसने संवारने के लिए हमारी असोसियेशन चंदा कर रही है, मुझे आपकी प्रतिष्ठा के अनुकूल दान देना है।

मेजर श्रीनाथ अपने लड़कों को बहुत चाहते थे, क्योंकि सभी लड़के समझदार थे, बात-चीत में मजे हुए और मेजर के समान अक्खड़ थे। रमेश वकील था, आज्ञाकारी था, उसकेलड़क भड़क-दार कपड़ों को देख कर मेजर अपनी प्रतिष्ठा नापा करते थे। वकालतमें रमेश नाम नहीं कमा सका, इसके कई कारण हो सकते हैं—एक तो मेजर का बेटा होने के कारण स्वाभाविक विरासती प्रतिष्ठा, दूसरे बैंकों की ५ लाख की पूँजी जिसकी देखभाल पिता के मरने के बाद उसके ही जिम्में थी। ५ लाख का मालिक क्योंकर मुव-क्किलों के पीछे घमें। देहाती तथा छोटे-मोटे आसामियों के पीछे घूमकर उसे अपनी प्रतिष्ठा थोड़ी गवानी है।

मेजर श्रीनाथ ने चेकबुक निकालकर चेक पर १००) का आँकड़ा बनाते हुए कहा""रमेश तुम मेजर श्रीनाथ के बेटे हो, जिसने मिहनत मशक्कत और मौत के साये में रहकर पैसा इकट्ठा किया है। यह पैसा हम साथ तो ले नहीं जायेंगे, तुम्हारा ही है, फिर भी हम यह चाहते हैं कि तुम लोग अपने पैर पर खड़ा होना सीखो।

जी, पिताजी रमेश ने कहा और प्रसन्ता से चैक को मोड़कर बाहर चला गया।

मेजर श्रीनाथ की ढलती हुई उम्र थी, पीला पत्ता न जाने कब टपक पड़े। सम्पत्ति की वसीयत करना उन्होंने उचित समझा। रमेश बहुत ही आज्ञाकारी था, पिता के हुक्म पर

जांनिसारी करने को तत्पर रहता और सबमें बड़ा था। मेजर ने सोचा कि रमेश के नाम वसीयत कर दूँगा। वह सब कुछ सम्भाल लेगा। सारी सम्पत्ति रमेश के नाम कर दी गई और उमेश उसके सिपुर्द कर दिया गया।

मेजर श्रीनाथ के मित्र थे डा० नंदन। उनकी अच्छी प्रैक्टिस चलती थी, उन्होंने एक बड़ा दवाखाना भी खोल रखा था। मेजर ने ड्रायवर को बुलाया और थोड़ी देर में ही कार डा० नंदन के बंगले पर थी। डाक्डर शानदार बंगले में रहते थे। मेजर को फोन पर मालूम हो चुका था कि डाक्टर नंदन अभी घर पर ही हैं। डाक्टर नंदन को लोग गरीब परवर कहा करते थे। आधी रात के समय भी वे मरीज के यहाँ साधारण धोती और दुपट्टा डाले, हैंड बैग उठाकर चले जाते और मरीज जो भी देता वे ले लेते। गरीबों से कुछ भी नहीं लेते। इसका अर्थ यह नहीं कि डाक्टर आधुनिक से आधुनिक चिकित्सा प्रणाली तथा तत्सम्बन्धी नई खोजों से परिचित नहीं थे, क्योंकि अच्छे डाक्टरों के बारे में हमारी यही धारणा रहती कि वह अधिक फीस लेनेवाला है। डाक्टर नन्दन को को मेजर श्रीनाथ का उस वक्त आना बहुत अच्छा लगा। डाक्टर अपने मित्र को ऐसी खुशखबरी सुनाना चाहते थे जिस से वे फड़क उठें।

मेजर की कार पोर्च में जाकर रुकी। कार की घरघराहट सुन डाक्टर अपने मित्र के लिए बाहर निकल पड़े। दोनों ने एक दूसरे को बाहुओं में कस लिया।

यार मेजर, तुम भी मिलने मिलाने की बात पर, बहुत सुस्त निकले भाई। एक साल हो गया यहां आये, लेकिन यह न हुआ कि अपने बचपन के साथी से मिल लें।

—यही शिकायत तो मुझे तुमसे है डाक्टर। मैं तो अपने

अकाऊन्टस, बंगला वगैरह सजाने में रहा। मेरे बिना मेरे लड़कों का एक पल भी काम नहीं चलता। उनकी तीमारदारी और नौकर चाकरों के पीछे चिल्लाने में ही मेरा सारा समय चला जाता है।

—अरे छोड़ो यार मेजर, अपने नहीं रहने पर भी ये लोग अपना काम चला लेंगे, और तुम्हारी अतुल सम्पत्ति से तो उनके लिए सारी सुविधायें अपने आप ही सुलभ हो जायेगी।

—नहीं, डाक्टर मेरे मरने के बाद ये लोग कुछ भी नहीं कर सकेंगे, क्योंकि मेरे बच्चे अपने हाथ से पापड़ भी नहीं भून सकते। सब काम ये लोग मुझे ही सौंप देते हैं, और आज्ञाकारी तो इतने हैं कि……

—अच्छा छोड़ो यार इन बातों को। हम तो भाई, इस हाईड्रोजन बम के युग की वैज्ञानिक देन पर विश्वास करते हैं। थोड़े दिनों बाद सब काम कृत्रिम रूप से होने लगेगा। आदमी लोहे के बनाये जा रहे हैं। जो बटन दबाते ही आपका इंगित कार्य कर देंगे। जानवरों के पेट से इंसान का बच्चा निकाला जायेगा। दामपत्य जीवन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। लोग बिना आहार के जीवित रहा करेंगे। लोगों की भावनायें मर जायेंगी। वे रोना और हँसना भी छोड़ देंगे। विज्ञान ने रावण को भी मात दे दी, अब कोई भी व्यक्ति चाहे जितने शीश अपने धड़ पर लगा सकेगा—डाक्टर ने विज्ञान युग की गरिमा उद्घाटित की।

—परन्तु डाक्टर मेरे रोग के निदान के लिये विज्ञान ने क्या किया? मेजर ने कहा—

—मेजर तुम्हारे लिये भी विज्ञान ने एक अजीबोगरीब आविष्कार किया, जिसे सुनकर तुम उछल पड़ोगे।

इतना कहकर डाक्टर ने मेजर के कान में कुछ धीरे से कहा, जिससे मेजर उछल पड़े और भावातिरेक में आकर उन्होंने डाक्टर को गले से लगा लिया। डाक्टर ने एक डिब्बी लाकर मेजर को दे दी। । मेजर ने डाक्टर से हाथ मिलाया और ब्यूक की ओर बढ़े। उनका दिल जोरों से धड़क रहा था। ब्यूक ने मेजर के बँगले में प्रवेश किया। हाल में जाते ही उन्होंने नौकरों को आवाज लगाई :—

—अरे रामू, श्यामू, छुट्टन सब के सब कहां मर गये।

नौकरों की आवाज के बदले उनके कानों में रमेश के इन शब्दों की भनक पड़ी —इनके मारे तो नौकरों की भी नाक में दम है, मरे तो घर को कुछ चैन मिले।

मेजर कुर्सी पर स्तब्ध होकर बैठ गये। नौकर को रमेश ने आवाज दे कर कहा —देखो बुढ्ढा क्या कह रहा है।

नौकर ने नीचे जाकर पूँछा— क्या चाहिए हुजूर।

रमेश ने जो थोड़े से फासले पर खड़ा था, नाक भौं सिकोड़ते हुए कहा—एक गिलास पानी के लिए सारा घर सिर पर उठा रखा था। फिर थोड़ा मेजर साहब के पास आकर कहने लगा।

—आज आप ने बहुत देर लगाई डेडी। देखिये न, टेबल-पॉट की ओर संकेत कर —आप के बगैर, सारी चीजें अस्तव्यस्त हो रहीं हैं।

—हां रमेश। मैं आज अपने एक पुराने मित्र से मिलने चला गया था। मेजर ने कहा।

—डेडी, मुझे १०० रुपयों की जरूरत हैं, अपने साथी बैरिस्टर के परामर्श की फीस मुझे चुकानी है —रमेश ने कहा

मेजर ने चेक पर १०० का आंकडा बनाकर रमेश को दे दिया, और उठकर अन्दर के कमरे में गये। यह कमरा मेजर साहब की लाइब्रेरी थी। इस लाइब्रेरी में 'वार एण्ड पीस' 'गोदान'

—'गुड अर्थ' 'शेष प्रश्न' जैसी संसार की सर्वश्रेष्ठ कृतियां थीं। उन्होंने सेफ में से एक मोटा सा कागज निकाल कर उसकेटु कड़े टुकड़े कर दिये और शान्ति की सांस ली। रमेश ने कमरे में आ कर देखा तो उसे आश्चर्य हुआ कि मोटे दस्तावेज के टुकड़े किये जा रहे हैं।

दूसरे दिन रमेश ने देखा कि डेडी एक नई फाइल लेकर घर आ रहे हैं। उसने अपने कुतूहल को शान्त करने के लिए पूछा, इस फाइल में क्या है डेडी ?

कुछ नहीं बेटा इसमें पेंशन के कागजात हैं'—मेजर साहब ने छोटा सा उत्तर दिया और वे अपने कमरे में चले गये।

मेजर साहब का छोटा लड़का उमेश तो हमेशा पिता की आज्ञा की प्रतिज्ञा करता। वह कालेज में पढ़ता था। उसे रम्भा संम्भा और कलबों के बालनृत्य का बड़ा शौक था। पैसे वह दोनों हाथों से लुटाता। अच्छे से अच्छे सूट पहनकर, दोस्तों की अपनी ऐश्वर्य को जमाये रखने में ही मस्त रहता था मेजर साहब उमेश को बहुत चाहते थे, जैसे कोई अंधा आदमी युद्ध में काम आये अपने बेटे के लड़के को बड़े जतन से पाल रहा हो। उमेश कुमार को कालेज की एक लड़की से प्रेम हो गया था, और शायद उस लड़की को उमेशकुमार से—दोनों सैरसपाटे करते—मोटर पर, बोट पर। श्यामा को वह स्वर्ग का देवता दिखाई देता और हरी पीली, इत्र से महकती हुई जार्जेट में उमेश को वह स्वर्ग की किन्नरी दिखाई देती। एक दिन अपना रोब जमाने के लिये उमेश उसे अपने बंगले पर ले आया। जब वे कमरे में दाखिल हो गये थे, तो उमेश अपने डेडी को खुर्सी पर बैठा देखकर झिझका।

क्यों क्या बात है डियर ? यह बुढ्ढा कौन है। श्यामा ने पूछा ?

यह हमारे डेडी हैं, न मरते हैं न खाट छोड़ते हैं। पैसे के

मोह ने इन्हें अब तक जिंदा रखा है। ये मेरे तो अपने ठाठ हैं डारलिंग। उमेश ने श्यामा को उत्तर दिया और वह आगे बढ़ा।

मेजर साथ के होंट बिचके, आँखों से लावा निकलने लगा। उनकी एड़िया उछलने लगी। उन्होंने उमेश की कल्पना के विपरीत जोर से कहा—यह किसको ले आया नालायक, तुमने मुझको क्या समझ रखा है।

उमेश ने पैर पकड़ते हुए कहा—पिता जी मैं इनसे शादी करना चाहता हूँ

मेजर साहब ने फौरन उत्तर दिया—क्या तुमने इनका और अपना खर्च चलाने का साहस है।

उमेश स्तब्ध था। श्यामा चली गई थी। मेजर साहब उठकर अपने कमरे में चले गये थे। हल्ला सुनकर रमेश भी नीचे आ गया। वह बाहर से पिता जी के कमरे में झांकने लगा। मेजर साहब उसके सामने लाई गई फाईल के टुकड़े कर रहे थे। रमेश को दूसरी बार आश्चर्य का धक्का लगा। मेजर कमरे से निकल कर बाहर गये और आध घण्टे के बाद वापिस आ गये।

दूसरे रोज सुबह डाक्टर नंदन मेजर श्रीनाथ के घर पर आये।

मेजर को बाहर न देखकर, उन्होंने रमेश को पुकारा। रमेश डाक्टर के साथ अपने पिता के कमरे में आया। परन्तु, कमरे की कुंजी अन्दर से बन्द थी। रमेश ने जोर से चिल्लाना शुरू किया। चिल्लाहट सुन उमेश और नौकर लोग भी वहां जुट गये। नौकरों ने अन्त में दरवाजा तोड़ा। कमरे के बीचो बीच मेजर औंधे पड़े हुए थे। उनके एक हाथ में दस्तावेज और एक चिट्ठी थी। डा० नंदन ने दस्तावेज देखा। वह वसीयतनामा था। उन्होंने अपनी तमाम जायदाद शहर के

यतीमखानों के नाम कर दी थी। चिट्ठी रमेश उठाकर पढ़ने लगा। उसका मजमून था—

मैं इस खुदगर्ज दुनिया से ऊबकर आत्महत्या कर रहा हूँ। इस दुनिया में पैसा ही सब कुछ है, पैसे के लिए ही मेरे दोनों बेटे मेरी मृत्यु की कामना कर रहे थे। अर्थ की धुरी पर ही आज सारा संसार चल रहा है। लोगों के बुझते हुए चूल्हों और उनकी जिन्दगी की राख पर ही पैसा इकट्ठा किया जाता है। अर्थ जहां बहुत कम है बहुत कम है, पेट के लिए भी अपर्याप्त है, वहां और जहां बहुत ज्यादा संग्रह किया गया, वहाँ बाप-बेटों, पीत-पत्नी, भाई-भाई के बीच खीमें और दूरियां पड़ती जा रही हैं। मैं अपने लड़कों को चाहता था। परन्तु जिस दिन मैं डाक्टर नंदन के यहां से अपने बहरे कानों से सुनने की मशीन लाया, उसी रोज से सारे राज खुलना आरम्भ हो गये। रमेश और उमेश मुझे बहरा समझ अपने पाप को मेरे सामने ही कह देते थे। मैंने डाक्टर के दिये हुए 'इयर-बटन्स' कान में लगा लिये थे और उसकी सूचना मैंने इन्हें नहीं दी। रमेश की बेवफाई देख, मैंने पहिला वसीयतनामा फाड़ दिया। जिसमें मैंने उसे सारी संपत्ति का गार्जियन बना दिया था। बाद में उमेश की बेवफाई देखकर मैंने दूसरा वसीनतनामा भी फाड़ डाला जिसमें सारी संपत्ति उसके नाम पर लिख दी गई थी।

मेरी आखिरी इच्छा इस नये वसीयतनामे में दी गई है।

सूचना तथा प्रकाशन विभाग
मध्यप्रदेश शासन,
नागपुर

अपना रिक्शा

(श्री गिरीश मोहन)

दिन भर की मजदूरी के बाद नन्हकू ने बिजली के खम्भे के नीचे, प्रकाश में अपनी कुल दिन भर की कमाई जोड़ी। आठ, दो—दस, चार—चौदह, एक—पन्द्रह। एक रुपया पन्द्रह आने'''' ''''और एक बीड़ी का बन्डल, दो आने''' माथे पर पड़ी सलवटों ने याद दिलाई। कुल दो रुपये एक आने, किन्तु'''''''' इसमें केवल ग्यारह आने मेरे हैं शेष बीस आने सेठ जी के'''' क्यों? क्योंकि रिक्शा उनका है'''''''' मैं तो केवल किराये पर चलाता हूँ। काश, मेरे पास भी रिक्शा होता 'अपना रिक्शा' यह अन्तर-मन की गूँज सामने आती हुई 'जीप' की हॉर्न ध्वनि में खो गई। फिर कुछ ही सेकन्ड में सदा की भाँति रिक्शा स्टेशन रोड की काली सड़क पर रिक्शे के आगे हल्का सा प्रकाश फैलाता हुआ मंद-मंद गति से चला जा रहा था।

—'दायें मोड़ से'''''''' नन्हकू ने शिवाजी मार्ग पर मुड़ते-मुड़ते पेट्रोल टंकी पर खड़ी एक नयी कार पर नजर डाली, रिक्शा उसी प्रकार चलता रहा'''''''' 'यशपाल, साथी प्रेस' बाहर एक बिजली का लट्टू जल रहा था। ''''''''' वैष्णव भोजनालय''''
रिक्शा अपने निश्चित स्थान पर रुक गया। नन्हकू ने मैनेजर की मेज पर बीस आने रख दिये। किन्तु दृष्टि ऊपर न उठा सका।
"क्या बात है नन्हकू ?" मैनेजर ने प्रश्न किया।

—'कुछ नहीं' नन्हकू छोटा सा उत्तर देकर भूख मिटाने के लिए बंशी पराठे वाले की ओर चल दिया।

'इस बरामदे में कितने दिन गुजर होगी ?' नन्हकू के अन्तर मन में नींद आने से पहले नित्य की भाँति यह प्रश्न उस भिखारी की बेबसी की तरह गूँज रहा था, जिसके पास भीख लेने के लिये बरतन भी न हो। वह अपनी समस्या को सुलझाने के भ्रम में, उसमें और उलझता जा रहा था।

'बरसात आ रही है, जाड़े भी जल्द आ रहे हैं। पारसाल तो पलटन पर का एक सस्ता कम्बल मिल गया था..........भय्या जिन्दा थे, पेट भरने भर को खेत में पैदा होकर लेते थे पर अब................?' भय्या की मृत्यु और कुड़की का स्मरण आते आते उसका हृदय रो उठा। आंखें भर आयी, किन्तु उसने अपने आंसुओं को रोक लिया। पुरुष की आंखें जब अपनी दुर्बलता की विवशता के स्मरण से सजल हो जाती हैं, किन्तु अपने पुरुषार्थ का विचार कर वह उन आंसुओं को बाहर आने से रोक देता है। वे आंसू बरस कर अन्तर-भूमि को सींच देते हैं। उस भूमि में निराशा का अंकुर कुण्ठित और आशा का बीज मुखरित होने की आशा में प्रयत्नशील रहता है। पल्लवित होने के प्रयत्न में संलग्न मन के आंसुओं में नन्हकू ने अपना सुन्दर भविष्य देखा और वह स्वप्न जगत में खो गया।

स्वप्न में उसने देखा अपना भावी छोटा सा परिवार और 'अपना रिक्शा।'

सबेरे नन्हकू के मुह पर नयी रौनक थी। उसकी नींद भी आज रोज से जल्दी ही खुल गई थी। सूरज के निकलने के पहले ही वह कम्पनी की ओर चल दिया।

ढाई बजे के करीब जब वह बख्शी रिक्शा क० से निकल रहा था उसके चेहरे पर पर दृढ़ संकल्प की रेखायें बिल्कुल

स्पष्ट हो गईं थीं। उसके कानों में उसके अपने रिक्शे की घन्टियों की आवाज गूँज रही थी और चेतन मन में पाँच सौ रुपये की पाँच किश्तों को तीन-तीन महीने में चुकाने की योजना। कम्पनी के मैनेजर ने स्पष्टत: उसे पहली किश्त यानी १०० रुपये दे देने पर उसे रिक्शा देने का आश्वासन दे दिया था।

रात में कुल मजदूरी जोड़ने के पहले नन्हकू ने पक्का निश्चय कर लिया था कि आज से वह अधिक से अधिक पैसा बचाने का प्रयत्न करेगा। अत: अपने हिस्से में केवल १५ आने, आने पर भी उसने आठ आने मजबूती से अपनी गाँठ में बांध लिये।

साढ़े चार महीने व्यतीत हो गये, नन्हकू ने जब अपनी जमा— पूँजी पर नजर डाली तो उसे अपनी विवशता पर झुँझलाहट आ गयी। कितनी कठिनाइयों से उसने तीस-तीस, इक्तीस दिनों के लम्बे-लम्बे महीने काट डाले, लेकिन पहली किश्त भर के भी रुपये न जमा हो सके। वाहरी किस्मत एक वह है जो केवल जेब खर्च में सौ रुपये खर्च कर देते हैं, और एक मैं सौ के आधे भी, दिन भर, मर-खप कर भी नहीं कमा पाता हूँ। छेहत्तर रुपये, इतने दिनों की सख्त तकलीफों का यही वरदान है।······ लेकिन चाहे जो कुछ हो, मैं कल रिक्शा ले जरूर लूँगा नन्हकू के मन ने उस नादान बच्चे की तरह हठ किया जो मोटर साफ करने वाले क्लीनर बाप से एक वैसी ही मोटर लेने की जिद करे।

रात को नन्हकू को नींद नहीं आ रही थी। वह सोंचरहा था शेष रुपये यदि कहीं से मिल जाते। सोंचते-सोंचते उसकी आँखों में अकस्मात् एक नयी प्राणवान् चमक दिखी······ उसी आशामय चमक में धीरे-धीरे उसे नींद आगई।

डाक्टर की शुभ सम्मति का विरोध कर नन्हकू ने अपने एक पौंड खून के बदले में मेडिकल कालेज से २५ रुपये प्राप्त किये।

"अपना रिक्शा" लाने की खुशी ने उसमें घटे खून की शक्ति से कई गुनी अधिक शक्ति का संचार कर दिया।

जब उसने अपने हाथों में अपना रिक्शा लाने के लिये पहली किश्त के रुपयों को गिना, तो उसके मस्तिष्क में कितनी ही सुखद् कल्पनाओं की रील इतनी तेजी से घूम गई कि कुछ समय बाद वह स्वयं भी उन कल्पनाओं का स्मरण करने में असमर्थ होता। संक्षेप में उसे केवल यह अनुभूति हो रही थी कि वह बेहद खुश है।

जब वह नया रिक्शा लेकर दुकान से निकला, उसका हड्डी का ढाँचा खुशी के आवेग में झनझना उठा। शाम के धुँधलके में अमीनाबाद् पार करते समय उसे स्मरण आया कि आज मंगलवार है, और अभी उसकी जेब में एक रुपया शेष है।

पांच आने का प्रसाद् का दोना जब पुजारी जी के हाथों से होकर नन्हकू के हाथों में वापस आया तो नन्हकू ने सोंचा कितने लोभी हैं यह पुजारी। भोग के नाम से कितना हिस्सा अपनी पेट पूजा के लिये निकाल लेते हैं"""स्वार्थी""।"

शाम को जब सूरज डूब रहा था, नन्हकू के चेहरे पर बेहद खुशी नजर आ रही थी, लेकिन सबेरे जब सूरज आहिस्ते २ नीले आकाश में ऊपर उठ रहा था नन्हकू का चेहरा प्रतिक्षण मुरझाता जा रहा था। वह महसूस कर रहा था कि जैसे उसका शरीर निर्जीव सा हो गया हो, उसमें करवट लेने का साहस भी नहीं था। ठन्डी ज़मीन पत्थरों की तरह गड़ रही थी। जब कई बार उठने की इच्छा में वह सफल न हुआ, उसे अपने पर झुँझलाहट आ गई, शायद् झुँझलाहट में भी कोई शक्ति निवास करती है। नन्हकू के बदन में बिजली सी कौंध गई। वह उठ खड़ा हुआ। पास रखे लोटे से कुल्ला किया, मुँह धोया—सोंचा थोड़ा

सा गुड़ खालें ......परन्तु न जाने क्यों कुछ खाने को जी नहीं चाह रहा था।

नन्हकू को आशा थी, आज रोज से ज्यादा पैसे मिलेंगे, क्योंकि अब रिक्शा अपना है, करीब-करीब अपना ही है, शेष किश्तों को देने के लिये पैसे बचाकर भी रोज से अधिक ही पैसे बचेंगे।

सड़क पर बढ़ती हुई, भीड़ के बीच नन्हकू के पैर यन्त्रवत रिक्शे को आगे खींचे लिये जा रहे थे। मन में आशा थी किन्तु देह निराश हो रही थी।

'रिक्शा' सड़क की दूसरी पटरी पर खड़े एक युवक ने आवाज़ दी। रिक्शा रुक गया। युवक ने पास आकर पूछा—चारबाग चलोगे ?' स्वीकृत पाकर वह फुर्ती से सीट पर बैठ गया।

रिक्शे की गति धीमी देखकर युवक ने ज़रा जल्दी जल्दी चलाने का आदेश दिया।....रिक्शे की गति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। किन्तु युवक के एक बार फिर झकझोरने पर नन्हकू ने अनुभव किया जैसे वह युवक भाग्य के रूप में उसके पुरुषार्थ को चुनौती दे रहा हो। इस विचार ने नन्हकू के प्राणों में एक नयी शक्ति का संचार कर दिया। पर स्टेशन तक पहुँचते पहुँचते वह बेहद थक गया था। रिक्शे से उतर कर जब उसके हाथ पर दो आने पैसे इस प्रकार रख दिये गये जैसे किसी भिखारी को दान दिया गया हो। तब नन्हकू यह भी न कह सका कि यह पैसे कम हैं। स्टेशन के उस पार ट्रेनों की सीटियां गूँज रहीं थीं और इधर नन्हकू सोच रहा था—"'अपना रिक्शा ?"

आनन्द भवन,
हसनगंज (पार)
लखनऊ

दाज्यू

(श्री शेखर जोशी)

चौक से निकलकर बाईं ओर जो बड़े 'साइन बोर्ड' वाला छोटा कैफे है वहीं जगदीश बाबू ने उसे पहिली बार देखा था। गोरा चिट्टा रंग, नीली शफ़्फ़ाफ आँखें, सुनहरे बाल और चाल में एक अनोखी मस्ती—पर शिथिलता नहीं। कमल के पत्ते पर फिसलती हुई पानी की बूँद की सी फुर्ती। आंखों की चंचलता देखकर उसकी उम्र का अनुमान केवल ९–१० वर्ष ही लगाया जा सकता था और शायद यही उसकी उम्र रही होगी।

अधजली सिगरेट का एक लम्बा कश खींचते हुए जब जगदीश बाबू ने कैफे में प्रवेश किया तो वह एक मेज पर से प्लेटें उठा रहा था और जब वे पास ही कोने की टेबुल पर बैठे तो वह सामने था। मानो घंटों से उनकी—उस स्थान पर आने वाले व्यक्ति की—प्रतीक्षा कर रहा हो। वह कुछ बोला नहीं। हां, नम्रता प्रदर्शन के लिए थोड़ा झुका और मुस्कराया भर था, पर उसके इसी मौन में सारा 'मीनू' समाहित था। 'सिंगल चाय' का आर्डर पाने पर वह एक बार पुनः मुस्कराकर चल दिया और पलक मारते ही चाय हाजिर थी।

मनुष्य की भावनायें बड़ी विचित्र होती हैं। निर्जन, एकान्त स्थान में निस्संग होने पर भी कभी-कभी आदमी एकाकी अनुभव नहीं करता। लगता है, इस एकाकीपन में भी सब कुछ कितना निकट है, कितना अपना है। परन्तु इसके विपरीत कभी-

कभी सैकड़ों नर-नारियों के बीच, जनरवमय वातावरण में रह कर भी सूनेपन की अनुभूति होती है। लगता है, जो कुछ है वह पराया है, कितना अपनत्वहीन ! पर यह अकारण ही नहीं होता। इस एकाकीपन की अनुभूति, इस अलगाव की भावना की जड़ें होती हैं—विछोह या विरक्ति की किसी कथा के मूल में।

जगदीश बाबू दूर देश से आये हैं। चौक की चहल-पहल, कैफे के शोरगुल में उन्हें लगता है, सब कुछ अपनत्वहीन है। शायद कुछ दिनों रहकर, अभ्यस्त हो जाने पर उन्हें इसी वातावरण में अपनेपन की अनुभूति होने लगे। पर आज तो लगता है यह अपना नहीं, अपनेपन की सीमा से दूर, कितना दूर है ! और तब उन्हें अनायास ही याद आने लगते हैं अपने गाँव-पड़ोस के आदमी, स्कूल कालेज के छोकरे, अपने प्रदेश के कैफे—होटल ....।

'चाय शा'ब।'

जगदीश बाबू ने राखदानी में सिगरेट झाड़ी। उन्हें लगा इन शब्दों की ध्वनि में वही कुछ है जिसकी रिक्तता उन्हें अनुभव हो रही है। और उन्होंने अपनी शंका का समाधान भी कर लिया—

क्या नाम है तुम्हारा ?

मदन।

अच्छा मदन ! तुम कहाँ के रहने वाले हो ?

पहाड़ का हूँ, बाबू जी।

पहाड़ तो सैकड़ों हैं—आबू, दार्जिलिंग, मंसूरी शिमला, अल्मोड़ा। तुम्हारा गांव किस पहाड़ में है ?

इस बार शायद उसे पहाड़ और जिले का भेद मालूम हो गया। मुस्करा कर बोला—

अल्मोड़ा शा'ब अल्मोड़ा।

अल्मोड़ा में कौन सा गांव है ?' विशेष जानने की गरज से जगदीश बाबू ने पूछा ।

इस प्रश्न ने उसे संकोच में डाल दिया। शायद अपने गांव की निराली संज्ञा के कारण उसे संकोच हुआ था। इस कारण टालता हुआ सा बोला, 'वह तो दूर है शा'ब, अल्मोड़ा से १५-२० मील होगा ।'

'फिर भी, नाम तो होगा ही ।' जगदीश बाबू ने जोर देकर पूछा ।

'डोट्यालगों' वह सकुचाता हुआ सा बोला ।

जगदीश बाबू के चेहरे पर पुती हुई एकाकीपन की स्याही दूर हो गई और जब उन्होंने मुस्कराकर मदन को बताया कि वे भी उसके निकटवर्ती गाँव '⋯⋯' के रहने वाले हैं तो ऐसा लगा जैसे प्रसन्नता के कारण अभी मदन के हाथ से 'ट्रे' गिर पड़ेगी। उसके मुँह से शब्द निकलने चाहकर भी न निकल सके। खोया खोया सा वह मानो अपने अतीत को फिर लौट लौट कर देखने का प्रयत्न कर रहा हो ।

⋯⋯गांव⋯ऊँची, हरी-भरी पहाड़ियां⋯नदी⋯ईजा (मां) ⋯बाबा⋯दीदी⋯नानी (छोटी बहिन)⋯दाज्यू (बड़ा भाई)⋯⋯।

मदन को जगदीश बाबू के रूप में किसकी छाया निकट जान पड़ी ? ईजा—नहीं, बाबा—नहीं, दीदी⋯नानी—नहीं, दाज्यू—दाज्यू !

दो चार ही दिनों में मदन और जगदीश बाबू के बीच की अजनबीपन की खाई दूर हो गई टेबल पर बैठते ही मदन का स्वर सुनाई देता।

दाज्यू, जै हिन्द।

दाज्यू, आज तो ठंड बहुत है।

दाज्यू, क्या यहां भी 'ह्यूँ' पड़ेगा ?

दाज्यू, आपने तो कल बहुत थोड़ा खाना खाया !

तभी किसी ओर से 'बॉय' की आवाज पड़ती और मदन उस आवाज की प्रतिध्वनि के पहुँचने से पहले ही वहां पहुँच जाता। आर्डर लेकर फिर जाते जाते जगदीश बाबू से पूछता, 'दाज्यू कोई चीज ?'

× × ×

पानी लाओ।

लाया दाज्यू' दूसरी टेबुल से मदन की आवाज सुनाई देती।

मदन 'दाज्यू' शब्द को उतनी ही आतुरता और लगन से दुहराता जितनी आतुरता से बहुत दिनों के बाद मिलने पर माँ अपने बेटे को चूमती है।

कुछ दिनों के बाद जगदीश बाबू का एकाकीपन दूर हो गया उन्हें अब चौक, कैफे ही नहीं सारा शहर ही अपनेपन के रंग में रंगा हुआ सा लगने लगा। परन्तु अब उन्हें यह बार बार 'दाज्यू' कहलाना अच्छा नहीं लगता। और यह मदन था कि दूसरी टेबुल से भी 'दाज्यू'······

मदन ! इधर, आओ !

आया दाज्यू !

'दाज्यू' शब्द की आवृति पर जगदीश बाबू का 'मध्यम-वर्गीय अहं' जाग उठा—अपनत्व की पतली डोरी अहं की तेज धार के आगे न टिक सकी।

दाज्यू, चाय लाऊँ ?

चाय नहीं लेकिन यह दाज्यू-दाज्यू क्या चिल्लाते रहते हो दिन रात। किसी की 'प्रेस्टिज' का भी ख्याल नहीं है तुम्हें ?

जगदीश बाबू का मुँह क्रोध के कारण तमतमा गया। शब्दों पर अधिकार नहीं रह सका। मदन 'प्रेस्टिज' का अर्थ समझ सकेगा या नहीं यह भी उन्हें ध्यान नहीं रहा।

काश ! कोई मदन को 'प्रेस्टिज' का अर्थ समझा देता। 'प्रेस्टिज' माने नपुंसक दम्भ, 'प्रेस्टिज' माने सफेद कालर और मेहनतकश हाथों की दूरी, 'प्रेस्टिज' माने कायरता……।

पर मदन बिना समझाये ही सब कुछ समझ गया था। जिसने इस कच्ची उम्र में ही दुनियाँ को समझने की हिम्मत कर ली हो वह क्या एक क्षुद्र शब्द का अर्थ भी नहीं समझ सकेगा ?

मदन को जगदीश बाबू के व्यवहार से गहरी चोट लगी। मैनेजर से सिरदर्द का बहाना कर, घुटनों में सिर दे कोठरी में सिसकियाँ भर भर रोता रहा। घर गांव से दूर ऐसी परिस्थिति में मदन का जगदीश बाबू के प्रति आत्मीयता प्रदर्शन स्वाभाविक ही था। इसी कारण प्रवासी जीवन में आज पहली बार उसे लगा जैसे किसी ने उसे ईजा की गोदी से, बाबा की बाहों से, और दीदी के आँचल की छाया से बलपूर्वक खींच लिया हो। परन्तु भावुकता स्थायी नहीं होती। रो लेने पर, मन की भावुक उलझनों को सुलझा लेने पर, अन्तर की घुमड़ती वेदना को आखों की राह बाहर निकाल लेने पर मनुष्य जो भी निश्चय करता है वे भावुक क्षणों की अपेक्षा अधिक विवेकपूर्ण होते हैं।

मदन पूर्ववत काम करने लगा !

× × × ×

दूसरे दिन कैफे जाते हुए अचानक ही जगदीश बाबू की भेंट बचपन के सहपाठी हेमन्त से हो गई। कैफे में पहुँचकर जगदीश बाबू ने इशारे से मदन को बुलाया परन्तु उन्हें लगा जैसे वह उनसे दूर दूर रहने का प्रयत्न कर रहा हो। दूसरी बार बुलाने पर ही मदन आया। आज उसके चेहरे पर वह मुस्कान नहीं थी और न उसने 'क्या लाऊँ दाज्यू' कहा। स्वयं जगदीश बाबू को ही पहले कहना पड़ा, 'दो चाय दो आमलेट' परन्तु तब भी

'लाया दाज्यू' कहने की अपेक्षा 'लाया शा'ब' कहकर वह चल दिया, मानो दोनों अपरिचित हों।

'शायद पहाड़िया है ?' हेमन्त ने अनुमान लगाकर जगदीश बाबू से पूछा।

'हाँ' सूखा सा उत्तर दे दिया जगदीश बाबू ने।

मदन चाय ले आया था।

'क्या नाम है तुम्हारा लड़के ?' हेमन्त ने अहसान चढ़ाने की गरज से पूछा।

कुछ क्षणों के लिये टेबुल पर गम्भीर मौन छा गया। जगदीश बाबू की आंखें चाय की प्याली पर ही झुकी रह गईं। मदन की आंखों के सामने विगत स्मृतियां घूमने लगीं।·······जगदीश बाबू का एक दिन ऐसे ही पूछना·······दाज्यू····प्रेस्टिज का ख्याल नहीं रहता····। मदन ने चाहा कि वह इस प्रश्न को टाल जाय। जगदीश बाबू ने आंखें उठाकर मदन की ओर देखा। उन्हें लगा जैसे अभी वह ज्वालामुखी सा फूट पड़ेगा।

हेमन्त ने आग्रह के स्वर में दुहराया, 'क्या नाम है तुम्हारा ?'

'बॉय' कहते हैं शा'ब मुझे' संक्षिप्त सा उत्तर देकर वह मुड़ गया। आवेश में उसका चोहरा लाल होकर अधिक सुन्दर हो गया था।

बड़ा बेवकूफ है अपना नाम भी भूल गया।' विस्मय से हेमन्त ने कहा।

पर जगदीश बाबू, जिन्हें अभी मदन ने 'शा'ब' कहा था इस व्यंग को समझते हैं। उन्हें लगा कि इन शब्दों की तह में जैसे मदन कह रहा है 'मैं बॉय हूँ ! बॉय हूँ !!' तुम्हारी प्रेस्टिज के, तुम्हारे नपुंसक दम्भ के घेरे के बाहर, बहुत बाहर मेरी स्थिति है।

४ ए।११; तिलकनगर, नई दिल्ली

मुनन मियाँ

(श्री रवीन्द्र नाथ देव)

वकील ने कहा, '—ठीक कहा भाई मनोहर, अब न रहा वह जमाना, और न रहे वैसे आदमी। सुना है मुनन मियाँ की कहानी? नहीं शायद तुम्हें कभी बताया न हो।

. फिर खिलावन—वकील साहब का नौकर, छोटे क़द का दुबला सा पर बड़ा होशियार उसकी ओर देखकर वकील साहब ने पूछा—'तू मुनन मियाँ का देखे रहे—जङ्गलपुर के मुनन मियाँ का? 'हाँ देखे रहे सरकार बहुत लम्बे से रहे—पर बूढ़ हुइ गये रहे—लँगड़ात चलत रहे—'हाँ बहुत लम्बे थे मुनन मियां। मैंने तो उतना लम्बा आदमी देखा नहीं। शायद साढ़े छः फुट से भी ज्यादा लम्बे थे। और मुनन मियां थे पहलवान—हाथ पैर के साफ़ दांव पेच में चतुर थे। बड़े-बड़े पहलवान आये उनसे लड़ने को, पर कोई उनको न पछाड़ सका। जङ्गलपुर की बबुआइन साहबा ने इसीलिए खुश होकर उन्हें तीन बीघे का बाग़ दे दिया था।

मुनन मियां के कोई न था। बबुआइन साहबा के यहाँ से मांहवारी कुछ मिलता था और दो एक चेले थे। किसी तरह काम चलता था। मुनन मियां खुश थे। ....

एक बार बकरीद के दिन मुनन मियां अपने एक पुराने शागिर्द के यहाँ गये। उसने मुनन मियां को एक मेमना दिया—छोटा काला मेमना, जिसको देखते ही मुनन मियां के मुँह में पानी भर आया। उन्होंने सोचा कि उसे घर जाकर जिबा करेंगे।

पर, जब घर जाकर हलाल करने के लिए चाकू उठाया तो मेमने को देखकर न मालूम क्यों रुक गये। सोचा कि आज तो बकरीद की दावत खाकर आया ही हूँ—अब कल इसे हलाल करूँगा। दूसरे दिन फिर ज़िबा करने की तैयारी कर रहे थे—तो वह काला छोटा सा मेमना बे-बे करता हुआ उनकी ओर बढ़ आया और उसने उनके एक हल्की जड्डु लगाई। मुनन मियां एक साथ हँस पड़े और उन्होंने चाकू को दूर फेंक दिया और हाथ से धीरे से उसके सर को ढकेलने लगे। मेमने ने भी जोर से जड्डु मारने की चेष्टा की। उस दिन से मुनन मियां का यही खेल हो गया। मेमने को धीरे से ढकेलते थे, और मेमना दौड़कर आकर जड्डु लगाता था। और मुनन मियां कहते जाते थे 'वाह बेटा शाबाश—हाँ जरा दाहिना कसके—और जोर लगा—अरे भेड़ के बच्चे—' अगर लोग कुछ पूछते थे तो मुनन मियाँ कहते थे " इ हमारा चेला है। देख्यो जब बड़ा होई, अस पट्ठा निकरी—'

वह मेमना बड़ा होता गया। उसके सींग मोटे, घुँघराले मजबूत कान के पीछे घुम गये। सीना तनता गया। गठीला बदन—फौलाद ऐसा सर और चौड़ी गर्दन। सचमुच खूबसूरत पट्ठा तैयार हो गया था। पर मुनन मियाँ उसके साथ उसी प्रकार रोज लड़ते गये। हाँ अब केवल बाँये हाथ से उसे पीछे हटा नहीं सकते थे।

एक बार रवइया के ठाकुर साहब ने —बबुआइन साहबा से कहला भेजा —कि 'हमारे पास एक लड़ने वाला भेड़ा है —' रवइया के ठाकुरों से जङ्गलपुर के बाबूसाहबों की खानदानी ताना तानी थी। कहते हैं कि प्रायः मुग़ल सामराज्य के समय से इन दोनों घरों में शत्रुता थी। इस चुनौती को पाते ही बबुआइन साहबा आग बबूला हो उठीं —आज वह बेवा थीं —लड़का भी

जाता रहा था तभी अकेली जानकर रवइया वालों ने उनको यह अपमान-जनक चुनौती दी थी।

काश—आज बाबू साहब जिन्दा होते—या उनका लड़का ही जिन्दा होता। बबुआइन साहबा ने आंसू पोंछे और मुन्शी राम भरोसे को बुलवाया—

अब इस अपमानजनक चुनौती का उत्तर कैसे दिया जाय—दोनों यही सोचने लगे।

बबुआइन साहबा ने पूँछा 'आप उनके भेड़ा को देखे हैं ?'

'न बबुआइन साहबा—देखे का सुयोग तो नहीं भवा, पर हमारा भइना श्यामलाल ओका देखिस है और वह कहता है कि गदहा के बराबर बड़ा भेड़ा है। कौनो आदमी डर के मारे उधर से निकरत नाहिं है, सरकार। ठाकुर साहब खूब बादाम ओहका खियावत हैं–ई चौड़ा सीना–' मुन्शी जी को रोकते हुए बबुआइन साहबा ने कहा 'यह सब तो ठीक है पर अब किया क्या जाय ? रवइया वालों की चुनौती तो खाली वापस जा नहीं सकती।'

'तो क्या किया जाय ?' मुन्शी जी पसोपेश में पड़े। दुबले छोटे से आदमी क्या बबुआइन साहबा उनसे कहेंगी कि रवइया के ठाकुरों से मुकाबला करें।

'यही तो मैं आप से पूछना चाहती हूँ—' बबुआइन साहबा ने एक ठंडी साँस ली।'

'कहिये तो पीपलपुर के पासियों को कहा जाय—जगन्नथवा को बुला लिया जाय—' वह अगर आप से हुकुम पा जाय तो भेड़ा रवइया से चुरा लेंगे फिर हमारे यहाँ—'

'बात तो कुछ ठीक सी लगती है—पर इसमें खून खराबी जायदा न हो—आखिर भेड़े की हिफ़ाजत तो वह भी करेंगे—मुन्शी जी—'

'हाँ सो तो करेंगे–'मुन्शी जी ने पसोपेश भरी आवाज से कहा और कान खुजलाते गये

'कुछ और उपाय नहीं है ? अगर नहीं है तो पीपलपुर में जगन्नाथ के पास खबर भेजी जाय·······'

'इतने में दुखिया घसियारा, जो चुपचाप अभी तक खड़ा हुआ सब बातें सुन रहा था हाथ जोड़ कर कहने लगा 'भेड़ा तो सरकार आप के इलाके में भी है —अच्छा है पर ऊ रवइया के भेड़े का मुकाबला कर पाई या न पाई—'

'कहां वह भेड़ा है ?' बबुआइन साहबा ने आग्रह-पूर्वक पूछा

'बबुहारी बाजार के नगीच—मुनन मियाँ रहते हैं उन्हीं के पास—'

'हां—बबुआइन साहबा हमारा भानजा रामभरोसे ने देखा है—बतावत है कि मुनन् ओहके साथ लड़ते रहते हैं—'

'तो अभी उसके पास आदमी जाय। कल तक रवइया वालों के पास जवाब पहुँच जाय—' बबुआइन साहबा उठ खड़ी हुई—

× × ×

बबुहारी बाजार जंगलपुर से कुछ दूर था। जब रामभरोसे वहाँ पहुँचा तो सूरज डूब रहा था— मुनन मियां नमाज पढ़ने जा रहे थे। सब कुछ सुन कर कहा 'ए भाय मुन्शी जी—जाय के कह दो बबुआइन साहबा से कि अबहू मुनन मियाँ मरे नहीं है— अगर हमार 'तेदूँ' हार जाय—कोई बात नहीं—हम तो अबही हैं देखि रवइया वालन का—और देखब उनका भेड़ा कितना जबर है ''

पंडितों ने साइत देख कर दिन ठीक किया। जंगलपुर की कोठी के पीछे बड़े मैदान में दोनों भेड़ों की लड़ाई ठहराई गई। हजारों आदमी आये। जङ्गलपुर उमड़ पड़ा। रवइया से एक बैल-

गाड़ी पर चढ़कर वह भेड़ा आया—और उसके साथ सैकड़ों आदमी कुछ लठैत, कुछ देखने वाले।

भेड़े को देखकर जङ्गलपुर वाले घबड़ा गये। अच्छे जात का मेढ़ा था और उस पर बादाम इत्यादि मेवे खाकर बिल्कुल ठोस हो गया था। छोटी सी पूँछ, मजबूत कमर और शेर ऐसा सीना बिल्कुल तैयार पट्ठा था। बड़ा गुस्सावर।

पर मुनन मियाँ नहीं घबड़ाये—रवइया वालों से ललकार कर कहा 'हे सुनो रवइया वालों। अब मरद तुम्हरे यहाँ कोई रहा नहीं कि जङ्गलपुर का मुकाबला करे—तो मेढ़ा भेजे हौ। तो जान राख्यो—ठाकुर साहब का मेढ़ा अगर हमार 'तेंदु' का हराय दे तो बाजी खतम न होई—फिर मेढ़ा का हमरे साथ लड़े का पड़ी—नहीं तो निकर आवे कौनों मरद जो रवइया वालन में होय—'

नगाड़े बज उठे। दोनों मेढ़े मैदान में आ गये। लोग चंचल हो उठे। मुनन मियाँ ने अपने मेढ़े के कान में कुछ फुसफुसाकर कहा। दोनों मेढ़ों को सामने खड़ा किया गया गुस्से में दोनों फूल रहे थे—और अब दोनों एक दूसरे पर झपटे। दोनों का सर खटाक से बोला—और दोनों ने ऐंड़ी, चोटी की ताकत लगानी शुरू की। मुनन मियाँ का मेढ़ा पिछड़ने लगा। मुनन से देखा न गया। एक साथ चिल्ला उठे 'शाबाश मेरा बेटा—शाबाश तेंदू लड़े जा। 'जालिम का बाँया कसके' और मुनन का मेढ़ा पीछे एक साथ हट गया।। रवइया का मेढ़ा जोर लगा रहा था—उससे रुका न गया आगे बढ़ गया। मुनन मियाँ चिल्ला उठे 'पैतरा बदल कर नायें बाजू—' और मुनन मियाँ के मेढ़े ने रवइया के मेढ़े के पेट में एक जल्दी से जड्ड मारा। बादाम खोर मेढ़ा बहुत मजबूत था, गिर अवश्य पड़ा परन्तु फौरन उठ खड़ा हुआ—और अबकी बार गुस्से में फूलता हुआ भयंकर जोर से वार करने को

झपटा। मुनन मियाँ ने चिल्ला कर कहा कि 'खड़ा रह बेटा, कंधा बचाय के।' इशारे को समझ कर मुनन मियाँ के मेढ़े ने जल्दी से पैतरा बदल कर किनारे से फिर एक जड्ड मारा।

रवईया का मेढ़ा सचमुच मज़बूत था। वह फिर उठ खड़ा हुआ, परन्तु उसके गर्दन पर चोट आई थी—उसका गुस्सा और बढ़ गया था। मुनन मियां बहुत पास आ गए थे। अपने मेढ़े को उत्साहित कर रहे थे। एक साथ रवैया वाले मेढ़े ने आक्रमण किया—मुनन मियां कूद कर बचने गये, परन्तु उनकी लुङ्गी खुल गई, और उसमें उनका पैर फंस गया और वह गिर पड़े। ठीक उसी समय मेढ़े का सिर उनके बायीं टाँग से आकर लड़ा उसी महूर्त पैतरा बदल कर 'तेंदू' ने रवईया के बड़े मेढ़े की कमर पर पूरा जड्ड मारा—फिर रवइया का मेढ़ा उठ नहीं पाया।

मुनन मियां ने कोशिश की कि उठ खड़े हों—पर उठ नहीं सके। बैठे बैठे ही उन्होंने 'तेंदू' के सर को थपथपाया—और वह उनके पास चुपचाप खड़ा हो गया।

× × × ×

तीसरे पहर—कोठी के आँगन में भीड़ थी। चिक के पीछे बबुआइन साहबा खड़ी थीं।

मुंशी जी कह रहे थे 'बबुआइन साहबा कह रही हैं कि आज जंगलपुर की लाज मुनन मियां रख लिहिन हैं।'

लोगों ने धीरे से कहा—'इ मा का सक है।'

मुनन मियां का पैर बँधा हुआ था—एक डोली पर बैठे हुए थे। हाथ जोड़कर कहने लगे—'अरे मुन्शी जी—हम के लाज राखे वाले हैं। लाज राखे वाले तो ऊ हैं' और मुनन मियां ने अपना हाथ आकाश की ओर दिखाया। 'और लाज राखिस है ई हमार 'तेंदू' और तेंदू का सिर उन्होंने थपथपाया—एक बार तेंदू की आंखें चमक उठीं, कान खड़े हुये, उसने अपनी गर्दन झाड़ी

और जड्डु लगाने को तैयार सा दिखा, पर कुछ सोच समझकर उसके गले में पड़े हुये फूलों के गजरों को परम तृप्ति के साथ खाने लगा।

मुन्शी जी ने कहा—'बबुआइन साहबा कहत हैं कि तुमका शहर जाय के डाक्टर दिखाय का पड़ी। मोटर तैयार है।'

मुनन मियां ने हाथ जोड़कर कहा—'हे बबुआइन साहबा, हम तोहार ताबेदार हैं। आप जो कहियो मनबै करब, पर, आप हमका डागदर के पास न भेजें। सितलू पासी का बुलवाया है। अउतै होई—रग्घू हड्डी बैठाल दिहिस है—बस सितलू आय जाय, तो मगर के चरबी मलवाउब....'

'और एक अद्धा भी—'रहमत मियां ने हँसकर कहा—

'बबुआइन साहबा के सामने इ बात नहीं कहे का चाहि—' 'रहमत' कुछ डाँटते हुए स्वर में मुनन मियाँ ने कहा। रहमत मियाँ शर्मा के चुप हो गये—"बस दुई दिन हम चर्बी मलवाय लेई—फिर आकर आपसे सलाम करब—बबुआइन साहबा।

बबुआइन साहबा का गला भर आया था। साफ़ सुनाई पड़ा वह मुन्शी जी से कह रही हैं-'उससे इनाम मांगने के लिए कहिये।'

'बबुआइन साहबा पूछत हैं तुम क्या इनाम लोगे?'

'मुन्शी जी अब का कही। हमार न बेटा है न बिटिया—उमर अब ढल चली—का करब इनाम लेकर जिन्दगी भर जेके खाये पिये हैं ओही से इनाम!' मुनन मियां हँसने लगे।

'अरे भइया माँग नहीं लेते—दस बीघा खेत;' मख़दूम उसको चचाजात भाई ने उसके कान में फुसफुसाकर कहा।

'लए : तू ही मांग ले बबुआइन साहबा से। दस बीघा लै कर करब का—अकेल मनई। सुनौ बबुआइन साहबा—अगर कुछ देवे का होय तो इन सबका देव हमका न चाहि—' एक साथ

उनकी दृष्टि मेढ़े पर पड़ी—फिर कहने लगे—'हाँ हमार इ बेटवा के लिए दुइ बीघा अगर तू दै देत्यु बबुआइन साहबा तो हम चना बोआय के इका खियाइत !'

तीन चार साल बाद मुझे एक बार एक मुक़दमे के मामले में बबुहारी बाजार जाना पड़ा था। वहां देखा मुनन मियाँ एक मेढ़े से लड़ रहे हैं। लेकिन यह मेढ़ा अभी पूरा तैयार नहीं हुआ था।

हालैण्ड हाल
अलाहाबाद

परछाइयों की तस्वीर

(श्री अनन्त)

मेरे सम्मुख यह चिट्ठी खुली पड़ी है। सामने की खिड़की से बाहर को देखता हूँ तो वही अमराई है और उसके बीच में वही हरसिंगार की गदराई डालियां।

चिट्ठी का भाव केवल इतना है—मैंने बहुत दिनों तक जीवन को किसी भाँति काट दिया। जब से ब्याह हुआ, जीवन को मैं काटती रही हूँ या वह मुझे, नहीं समझ पाई, किन्तु वह शक्ति भी मर गई है। घुल-घुलकर मर ही गई हूँ, किन्तु आखिरी सांस भी वैसे नहीं तोड़ना चाहती। इसलिये हुगली की लहरों में सो जाऊँगी।....ये शराब पीकर पड़े हैं और कहते हैं—मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। अभी इस बुत्त हालत में मुझे मारेंगे और कहेंगे—मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। दो बच्चे हैं, उन्हें पिता संभालेगा! पिता का भी तो कुछ धर्म है!

जब यह चिट्ठी तुम्हें मिलेगी, हुगली की धाराओं में मेरी लाश होगी किन्तु तुम रोना नहीं, मैं मर कर भी तुम्हारी रहूँगी।

शकुन

कुर्सी के हाथ पर मेरे हाथ हैं और मैं सामने की ओर देखता हूँ तो जीवन के पिछले नजारे वरक़ की भांति खुलते चले जाते हैं। अमराइयों से लगे उस घर से आवाज आती है—मैं यहां हूँ। लेकिन मैं जानता हूँ वह वहां नहीं है फिर भी जाने क्यों मेरा मन बहुत पीछे की ओर फिसलता चला जाता है। जब ...

सामने के उस घर में घोष बाबू थे। चाची और शकुन थीं।

शकुन खिलौनों के लिए रोती, मैं चिढ़ा देता और वह चाची के पास जाकर कहती—माँ रमेश हमें चिढ़ाता है।

—तो तू भी चिढ़ा दे न, चाची कहतीं!

मैं उन्हें चाची कहता और घोष बाबू को बाबा!

—नहीं बेटा वे चाचा हैं बाबा मत कहा कर! चाची कहतीं।

लेकिन मैं नहीं माना। मैंने उन्हें बाबा ही कहा।

वे हँस पड़ते—कहने दो। वह समझता है कि तुम चाची ही हो सकती हो और मैं बाबा।

चाची बिगड़तीं, बाबा हँसते रहते—भोली सी हँसी।

जब घर लौटकर आता तो मां कहती—मेरे लाड़ले वहीं क्यों नहीं जनम लिया। जब देखो तब घोष चाची के यहाँ। वहाँ मिसरी घोल के देती हैं क्या तुझे?

—हाँ माँ आज घोष बाबा ने अपनी थाली में बिठाकर कचौड़ियां खिलाईं।

माँ की ममता उमड़ आती—उनके प्रति जो कितने निश्छल थे। सच, मां की आँखों में मैंने कई बार मोती के दाने देखे थे, उन्हीं के लिए जो अपनी थाली में खिलाते, उनके लिए जो कहतीं उसका भी यह घर है।

किन्तु नहीं ये तो पत्ते खड़खड़ा रहे हैं। वे कहां हैं, वे तो चले गए यह जगह छोड़ कर। उन्हें इस मिट्टी से मोह था, उन्हें इस छोटी सी बस्ती से मोह था। उनकी नौकरी खतम हो गई। वे अध्यापक थे न!

शकुन मेरे घर आती तो माँ उसे गोद में भर लेतीं। फिर उतारती और कहती—रमू, तुम मुझसे तीन साल बड़े हो न? वह सात साल की थी।

मैं चुप रहता।

वह मेरे पास लगकर कहती—बोलते क्यों नहीं ?

—नहीं बोलता, तुम मेरे साथ खेलती जो नहीं।

फिर वह कई प्रश्न करती और मैं मौन रहता।

वह माँ से कहती—चाची, रमू नहीं बोलता। इसे मारो।

माँ हँस पड़ती। बाबूजी हँस पड़ते। मैं घोष बाबा के पास भाग जाता।

—क्या हुआ बेटे ? वे प्यार से पूछते।

—शकुन मेरे साथ नहीं खेलती और माँ से मारने को कहती है।

—मैं उसे पीटूँगा। जा तेरी चाची बुला रही थीं।

मैं चाची के पास भाग जाता—उनकी गोद में, प्यार से भर गए उन हाथों के बीच। तब मेरे दो घर थे—एक अपना, एक वह जहाँ घोष बाबा थे, जहाँ चाची थीं, जहाँ शकुन थी—अपनी बड़ी बड़ी आँखों में घूरने वाली, चंचल शकुन। पता नहीं उन आंखों में तब क्या रहता ? तब······

और अब उस घर के मुँडेर पर एक चील आकर बैठ गई है। मैं देख रहा हूँ, सचमुच वह चील है। लेकिन इससे क्या ? और हाँ उसमें एक प्रिंसपल आ गए हैं—उनकी मोटी-मोटी लड़की और वह थुलथुल लड़का। वह चील पर कंकड़ फेंक रहा है, हँसता है जैसे गुब्बारा फट गया हो·······चील उड़ गई है। वे पेड़ मौन हैं। वे दीवारें गूँजती हैं। उस हँसी से जैसे उन्हें कुछ याद आ रहा हो, वे सोच रही हों, उनके सीने में भी एक दिल हो········

फिर वे दिन बीत गये····

मेरे नस-नस में बिजली भर उठी। वह हँस रही थी, शकुन और अन्दर सजे सफेद गुलाब के पंख खुल गये थे—ऊपर और नीचे उनकी दो पंक्ति थी। मैं देखता रह गया। तब मैंने सोचा मैं बदल गया हूँ, मैं वह रमू नहीं हूँ जो पहले था, न वह शकुन

है सात साल वाली—वह तो फूल की पंखुड़ियाँ खुल-खुल कर फैल गई हैं, वह तो पूनम का चाँद है जो हरी-हरी अमराइयों की आड़ से ऊपर उठ आया है·········

—तुम मुझे अच्छे नहीं लगते।

—किन्तु तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो शकुन, पहले से कहीं ज्यादा।

वह लाल हो जाती, जसे कोई गोरे चाँद के मुखड़े पर कुमकुम रगड़ दे। फिर कुमकुम मिट जाता और गोरा-गोरा चाँद रह जाता।

मेरी दुनियाँ में नया रंग भर रहा था। हवा की हर साँस पुलक कर बहकी बहकी सी कुछ कह जाती। मीठा-मीठा प्यार, जब सब कुछ रंगीन था, मादक छुवन भरा·········

घोष बाबा कहते—पढ़ लिया कर शकुन इससे। तुझे तो पढ़ा ही सकता है।

—पढ़ा तो दूँ बाबा, लेकिन दिमाग में कुछ घुसे भी तो।

—हुँअ, वह मुँह घुमाकर कहती, बड़े आए दिमाग वाले, सेवेन्थ में फेल नहीं हुए थे ?

सचमुच मैं कुछ सोचने लगता। तब मैं फेल हो गया था, रोया था। किन्तु क्यों ?

चाची कहतीं—तुम दोनों हमेशा लड़ा ही करोगे या पढ़ोगे भी ?

जब हम अलग मिलते तो वह मेरे हाथ अपने उन गोरे हाथों में बाँध कर कहती—बुरा मान गए क्या ? मैंने तो हँसी की थी।

—नहीं तो। मैं हँसता किन्तु वह जैसे मेरी आँखों में कुछ खोजने लगती, अपनी हँसी की प्रतिक्रिया, जिसके लिए वह पछताती, जिसके लिए उसका मन भारी-भारी हो जाता। जब

उसकी आँखों में गीला-गीला कुछ झाँकने लगता तो मैं उन अधरों को चूम लेता, वह सिहर उठती, आँखों का पानी लौट जाता। सच तब वे गीली-गीली आखें खुश्क होकर हँस पड़तीं, चाँद का मुखड़ा हँस पड़ता····

किन्तु नहीं, वह सब तो एक स्वप्न था—काँपता, लहरता, जो अब नहीं है, कहीं नहीं······ बहुत दूर-दूर मैं देखता हूँ कि कहीं कुछ दिख जाय पर सूनापन, केवल सूनापन हहर रहा है······ उसे तो हुगली की धाराएँ पी गई होंगी···

सब कुछ था·· मैं था और वह थी मेरी शकुन, मेरे मन के तारों पर जिसकी हर बोल गीत बन जाती थी किन्तु नहीं—बीच में एक खाई थी, एक हरहराता सागर था। परम्परा की गलीज-उस गलीज के कीड़े।

आकाश सर पर उठ रहा था उन कीड़ों के।

पड़ोस के मुंशी जी की बहू ने माँ से कहा—यह सब क्या सुन रही हूँ भौजो ? क्या यह सब सच है ?

—क्या ? माँ ने निश्छलता से पूछा था

—कितनी भोली बनती हो भौजी, सारी दुनिया में भर उठा है, रमेश और शकुन, रमेश और शकुन !

माँ को जैसे बिच्छू छू गया। दर्द से ऐंठ कर बोली—देखो जी, फिर कभी, मेरे शकुन और रमू के लिए अगर कुछ मुँह से निकाला तो ठीक न होगा। दुनियाँ तो खुद सड़ रही है। घोष दादा देवता हैं और शकुन के पाँव देवियाँ भी चाटें, देवियाँ।

मुंशी जी की पत्नी चली गईं। फिर तो वृद्धाओं के पेट में बवंडर उठने लगा।

—ओय री मोरी मइया, ऐसा कहे है री !

—घोषाइन चुड़इल है पूरी बहन, जाल बिछाये है।

—लाज मरजाद दुनिया से गई बहन ! कहने वाली की आँखों में पानी भर आता ।

पूरा चक्र चल रहा था । हर घर में एक ही समस्या थी 'भला ऐसा होना भी ठीक है ? आधा पेट खाने वाले परिवार में भी यही चर्चा—पूरी बंगालिन है उसकी माँ, :रमेश को फाँसे है। जात पाँत भी तो कुछ है । कहाँ बंगालिन, कहाँ·······

मुझे लगता, मेरे चारों ओर, उन दो घरों के चारों ओर सर्पिन सी लहरें उफनतीं गरजती बढ़ रही हैं और हम उसमें बह जायेंगे, हम दूर दूर छिटक कर बहेंगे, पास पास नहीं । दो घरों का द्वीप तूफ़ानी लहरों के बीच पड़ गया है । अब वह डूब जायेगा क्योंकि वे लहरें गलते हुये समाज की चाह हैं, क्योंकि उन्होंने साथ ही सड़न को जीवन मान रक्खा है ।—धरम और मरजाद ·······

एक दिन पड़ोस ही की रामेश्वर ठकुराइन ने अपनी झमक झमक करती पायजेबों को बजाते हुए कहा था—बेटा, बंगालिनें डाइन होती हैं । जादू टोना कर देती हैं । ·······

—तुमसे भी बढ़ कर डाइन कोई होगी चाची, मेरे मन के विक्षोभ ने लहर कर कहा था, जो अपनी ननद को चाट गई ।

प्रसिद्ध था कि ठकुराइन ने कमला को गला गलाकर मार डाला था ।

वे तड़प कर लौट गईं । फिर नहीं आईं, नहीं आईं । मैं नहीं चाहता था कि वे आएँ, कोई भी आए, जिसके दिमाग का हर हिस्सा बदबू कर रहा हो । ये हैं ही क्या जो मुझे घोष बाबा के प्यार से, चाची से, उसकी उन भरी भरी बाहों से अलग करना चाहती हैं, जिसकी आँखों में मेरी आँखों ने सपने सँजोए हैं-शकुन, खिली हुई कली जो मेरी जिन्दगी है····मेरी जिन्दगी ।·······

किन्तु वह जिन्दगी कहाँ मिली ? क्या सचमुच मैं लाश नहीं हो गया हूँ ? नहीं-नहीं, मैं चलता तो हूँ, मैं तो बिल्कुल वैसा ही

हूँ जैसे और इन्सान। फिर भी मैं एक लाश हूँ क्योंकि मैं वह नहीं रह गया हूँ जो पहले था, क्योंकि मेरी जिंदगी नहीं रही''''।

एक दिन बाबूजी ने ही कहा था—'घोष बाबू के यहाँ जाना कम कर दे''''।'

बाबूजी ! मैं शायद चीखा था।

हाँ बेटा, मैं जानता हूँ वह तेरा घर हो गया है। मैं जानता हूँ वे इन्सान नहीं, देवता हैं, कम से कम हमारे आसपास के लोग जैसे इन्सान हैं वे सोच भी नहीं सकते कि घोष परिवार क्या है ? किन्तु हमें तो इन्हीं के बीच रहना है, इन्हीं के बीच मरना है कि हम मर्यादा और परम्परा की सड़न के बीच मर रहे हैं। बेटा, यह जानते हुए

मैं बुत की भाँति मौन था। मैं नहीं बोल सकता था क्योंकि यह बाबूजी बोल रहे थे, वे, जो सड़न से लड़ना जानते थे। वे भी झुक गए थे''''।

माँ खड़ी थी और आँखों का झरना बह रहा था। वह रो रही थी कि शकुन और सरला, घोष बाबा और चाची और उसके बीच में दीवार खड़ी हो रही थी। सामने सड़क के उस पार पेड़ों की आड़ में वह घर था, हम इधर थे और बीच में ? बीच में एक खाई थी जिसे मरजाद कहते हैं, जिसे धरम कहते हैं.......

फिर मैं नहीं गया। मैं नहीं जानता कैसे नहीं गया। किन्तु यह सच था। उधर से, मुझे लगता दो बड़ी बड़ी आँखें झाँक रही हैं—अपने में प्यार भरे, तिरते हुए सपनों का साज भरे !

तीसरे दिन घोष बाबा आए। जैसे उनकी कमर झुक गई थी, जैसे उनके सीने के अन्दर किसी ने गर्म शलाख चुभो दिया था।

—राय बाबू, घोष बाबा बोले, क्या हम नहीं रहे जो वह

नहीं आता। रमू, जिसे मेरे हाथ बाँधना चाहते हैं, जिसे उसकी चाची अपने आँसुओं में खोजना चाहती है।

उनकी दो पुतलियाँ तैर रही थीं, आंसुओं के जल में!

बाबूजी ने मुझे पुकारा।

मुझे देखते ही वे दो हाथ मुझसे बँध गये। तब मैं भीगा था, बाबूजी की वे आँखें भी भीगी थीं, जो मुसीबतों की भँवर में भी खुश्क रहतीं।

उन्होंने कहा—तू जाया कर। तू मेरा बेटा नहीं रमू, घोष भाई का बेटा हो गया है। मैंने तुझे गलत मना किया था। तू जाया कर बेटा, नहीं तो वह नहीं रह सकेंगे। फिर उनकी आँखें निर्मल हो गई थीं।

शकुन मेरे सामने खड़ी थी। वह मन के दर्द को पीती हुई सब कुछ रोके खड़ी थी। मैं जानता था वह रोना चाहती है किन्तु नहीं रोती, आखिर क्यों नहीं रोती? उसका वह मौन, उसकी वे सूनी निगाहें...मैं सिहर उठा।

—तुमने मुझे गलत समझा शकुन, मैं विवश था।

वह बोली, मेरे कंधे पर सर रखती हुई बोली—जिस तरह दो दिन वैसे ही दो बरस दसबरस भी बीत जायेंगे। हम तुम दूर-दूरअलग-अलग होंगे, तब इन आम केपेड़ों की छाँव में न ठन्डक होगी न कोई कहेगा—पूनम का चाँद हँस रहा है.......

—नहीं शकुन...शकुन

तब मुझे अच्छा नहीं लगा था। मैं बेचैन सा उसकी ओर देख रहा था। कहीं यह सब सच न हो जाय। दस बरस ऐसे ही बीत जायेंगे? इन घनी-घनी अमराइयों की छाँव से खींच कर हमें दूर कर दिया जायेगा? पूनम का चाँद नहीं हँसेगा? ये दीवारें नहीं बोलेंगी, ये हवायें आम की डालों को चूम-चूम कर कुछ नहीं कहेंगी, कुछ नहीं ....

सचमुच अब वे कुछ नहीं कहतीं। उन अमराइयों की जिन्दगी मर गई है, उन दीवारों की हँसी लूट ली गई है क्योंकि वह यहाँ नहीं है। सब कुछ सूना-सूना सा समय की बातों में झूल रहा है। मैं यह सब देख रहा हूँ। मैं बहुत भीतर तक देख रहा हूँ, वह नहीं है—उसकी वे भरी-भरी बाहें, वे झूलते केश, उन अधरों का जीवन.......

मैं पढ़ने चला गया था इलाहाबाद। शकुन वहीं थी। वही थी जो लिखा करती—इलाहाबाद मुझे निगल गया रमू, रमू की शकुन को। तभी तो पत्रों के भीतर से कुछ नहीं झाँकता। तभी तो मेरे मन की पीर मनको बेध देती है, ऐसा क्या हो गया रमू? क्या अब मैं वह नहीं हूँ, अब कोई तो मुझसे नहीं कहता—पर तुम मुझे अच्छी लगती हो, पहले से कहीं ज्यादा। अब कोई तो मुझे छूकर बिजली नहीं पैदा करता .....

किन्तु मैं वही था, कैसे समझाऊँ कि वही था। मैं कभी नहींबदला। मेरे मन ने कभी भी उसे अलग नहीं किया। लेकिन किसे समझाऊँ? उसे तो इन अमराइयों की छाँव से खींच लिया गया है।...........यह सच है कि मैं नहीं बदला लेकिन कुछ तो बदला ही—कि उनकी नौकरी खतम हो गई—घोष बाबा की। वे स्नेह भरे हाथ, घोष चाची की स्नेह भरी फुहरियाँ, वह सब कुछ नहीं रहीं न?

उनकी नौकरी खतम हो गई और उन्हें जाना पड़ा। सहायक स्कूल की नौकरी थी। वे दिल्ली चले गये, अपने भाई के पास।

मैं उनसे नहीं मिल सका था। मैं इलाहाबाद था और वे चले गए थे। माँ कहती थी, जाते जाते घोष बाबा के मुँह में रमू का ही नाम था और घोष चाची की आँखों के आँसू टप टप कर अगर कुछ कह रहे होंगे तो वह रमू ही, रमू ही.......

और उसकी आँखों में क्या रहा होगा, उसके हृदय में जो

कुछ नहीं रह सकती थी ? जिसके हृदय में आग होगी और जिसका मुँह बंद होगा !

मैं अपने चारों ओर देखता हूँ । वे हाथ अब भी मुझे बाँध रहे हैं, वे अधर अब भी मुझे छू रहे हैं, सच छू रहे हैं ····नहीं नहीं, यह सब भ्रम है । कुछ भी तो नहीं है । केवल फैलती हुई आम की डालियाँ हैं और उनकी घेर में हरसिंगार का पेड़ जो है, उससे धुले धुले चाँदी जैसे, लाल डंठलों में शेफाली के फूल धरती पर बिछते जा रहे हैं और उन्हें कोई बटोर रहा है, कोई रखता जा रहा है—वह फूली-फूली लड़की है नये गृहस्वामी की ····वही हरसिंगार के फूल हैं लेकिन वह बात नहीं है ·······वह गंध नहीं है······

फिर एक दिन मुझे वह पत्र मिला था—ओ जाते समय भी नहीं आये । इतना भी न कर सके कि जिन बाहों को छू छू कर बिजली भर देते थे । उसे एक बार और छूते । जिस मुख से कहा था—शकुन, तुम हँसती हो तो मुझे पूनम का वह चाँद याद आता है जो गोरे गोरे बादलों के पार खेलता है, वही एक बार और कह जाता कि—मैं रमू, अब भी तुम्हारा हूँ, केवल तुम्हारा । किन्तु नहीं, मैं तुम्हें कुछ नहीं कहती । मुझे तो अब भी लगता है कि वे बाहें मुझसे लग रही हैं, वे बोल जो मेरी जिन्दगी थे अब भी बोलते हैं । बस इतना ही चाहती हूँ कि यदि मुझे दूसरी बाहों में कसना पड़ा तो भी मेरी याद को अपने मन की एक कोर में रहने देना, वह न मरे, क्यों कि तब भी मैं तुम्हारी रहूँगी अकेली तुम्हारी·······

कुछ दिनों बाद घोष बाबा का निमन्त्रण-पत्र आया था, चिट्ठी भी आयी थी कि शकुन की शादी कलकत्ते हो रही है । रमू को जरूर भेजना । मेरी बड़ी साध है······ ।

शहनाइयों का संगीत जब हर ओर बह बह कर फैल रहा था और सखियों ने उसका पूरा सिंगार कर साजन से गांठ जोड़ दी तभी मैं पहुँचा था। वह भाँवर के चारों ओर घूम रही थी, अपने पिया के साथ, पीले पीले अजीब रूप वाले पिया के साथ और चाची मुझे देखते ही बोल उठी थी—आ गये बेटा, मेरा बेटा आ गया। वह हर रोज पूँछती थी रमू!

भाँवर का पड़ना रुक गया था। पुरोहित ने देखा, सखियों ने देखा किन्तु वह चलने लगी थी उस दीपक की भाँति जो एक बार भभकता है और फिर जलने लगता है। अगरु धूप और रंगों से भरे उस घर में मेरा दम घुटने लगता था। स्मृतियों के पायल ने छनन् छनन् कर हृदय के बिल्कुल पास आकर कहा था—तुम्हारी आँखों के सामने ही वह खींच कर तुमसे दूर कर दी गई ······· अपने चारों ओर देखो ·······और सचमुच जैसे सागर को छूता हुआ नील गगन था, बस नील गगन·······

जब वह जाने लगी तो चाची फफक कर रो उठी थीं। घोष बाबा के पाँवों से वह लग गई थीं। नयनों से मेह बरस रहे थे बाबा का गला भर आया था। अन्तर पसिजता जा रहा था। कितने दिनों का सूना गगन बरखा बन रिस रिस कर बह रहा था ·······फिर उसने मेरी बाहों को छू भर दिया था——उन मेंहदी रची हथेलियों से अपनी नहीं, दूसरे की······· वे दूसरे की हो गई थीं न। ·······और वह मौन, लहकती हुई छुवन, अब भी सोचता हूँ तो मन को कुछ होने लगता है ···· एक तस्वीर आँखों के सामने उभरती है, आधी टेढ़ी परछाइयों की तस्वीर और अन्दर से बाहर तक सारी देह को झन्न झन्न कर जाती है·······!

पुलिस अस्पताल,
लखनऊ